

**TEXT FLY WITHIN
THE BOOK ONLY**

**TIGHT BINGING
BOOK**

UNIVERSAL
LIBRARY

OU_176649

UNIVERSAL
LIBRARY

OSMANIA UNIVERSITY LIBRARY

Call No **H 923-2**
599 B

Accession No **GH 3112**

Author **द्विवेदी, कृष्ण वल्लभ**

Title **भारत-निर्माता १९६३**

This book should be returned on or before the date last marked below

(भारत-निर्माता)

भारतीय सस्कृति और राष्ट्र के निर्माण मे योग देनेवाले
प्रतिनिधि महामानवो की गौरव-प्रशस्ति

[आधुनिक युग]

१

लेखक

कृष्ण वल्लभ द्विवेदी

सम्पादक, 'हिन्दी विश्व-भारती'

“भारत सरकार की ओर से भेंट”

हिन्दी विश्व-भारती



ज्ञान-विज्ञान-साहित्य की
प्रमुख प्रकाशन-संस्था

५१, गुईन रोड, लखनऊ

प्रकाशक
हृदयेश्वर प्रसाद
हिन्दी विश्व-भारती
५१, गुईन रोड,
लखनऊ

चित्रकार
पन्नालाल

जुलाई, १९६३

मूल्य
रुपए ५.२५

मुद्रक
कामेश्वर दयाल
मुद्रण-कला-मंदिर
५१, गुईन रोड,
लखनऊ

विषयानुक्रम

राममोहनराय :

पृष्ठ ९-२०

हमारी शक्ति-कुण्डलिनी—पुनरुज्जीवन का ज्वार—पुनरोदय का अग्रदूत—जन्म और शिक्षा-दीक्षा—सूफी मत और उपनिषदों का प्रभाव—समाज से टक्कर :: घर-परिवार में निर्वासित—पहली पुस्तक :: 'एकेश्वरवादियों को उपहार'—जीवन का द्वितीय अध्याय 'आत्मीय सभा'—धर्मध्वजी पड़ितों से सघर्ष—ईसाई मिशनरियों से विवाद—पादरी आदम का प्रसंग—'ब्राह्म समाज' की स्थापना—एक नवीन युगान्तर की सूचना—ब्राह्म समाज का स्वरूप और महत्व—समाज-गुधार के क्षेत्र में—शिक्षा और साहित्य के प्राङ्गण में—राजनीतिक विचार—राष्ट्रोदय का इच्छुक देशभवत—विलायत-यात्रा और राष्ट्रीय प्रचार-कार्य—देहावसान—आधुनिक भारत के उद्गाता—बहुमुखी देन—महान् विश्व-धर्म ।

दयानन्द :

२१-३०

युग-संधि के महापुरुष—क्रान्तिकारी बालक मूलशकर—जीवन का नया मोड़—गृहत्याग और गुरु की खोज—देश-भ्रमण और विरजानन्द से भेंट—गुरु-शिष्य की अनोखी जोड़ी—आर्य धर्म का प्रतिपादन और देशभ्रमण—एक नवीन सामाजिक क्रान्ति का सूत्रपात—दयानन्दकृत वेद-भाष्य—'मन्यार्थप्रकाश' और अन्य रचनाएँ—'आर्य समाज' की स्थापना—दस नियम—प्रचार और संगठन—बलिदान और अत—दयानन्द की देन—दयानन्द के महान् उत्तराधिकारी श्रद्धानन्द—'आर्य समाज' की सेवाएँ ।

रामकृष्ण :

३१-४०

अद्भुत अलौकिक बालक—कामारपुकुर में दक्षिणेश्वर—अनोखी तडपन—'महाभाव' की उच्च भूमिका—आठों पहर का साक्षात्कार—कठोर साधना—भैरवी सन्यासिनी—अवतारी महापुरुष—तोतापुरी में भेंट और सन्यास—परमहम स्थिति :: अन्य मार्गों की भी परख—नरेंद्र में भेंट—साधना का मूर्तिमान् मुफल—महामिलन की बेला—शिक्षा का निचोड़—सभी धर्मों की एकता—उपनिषदों का जीता-जागता भाष्य—'श्रीरामकृष्णवचनानुमृत' ।

देवेन्द्रनाथ ठाकुर :

४१-४८

वाल्यावस्था ही से परमार्थ की ओर झुकाव—'तत्त्वबोधिनी सभा'—सांस्कृतिक पुनरुत्थान का आन्दोलन—'ब्राह्म समाज' के आँगन में—पारिवारिक सकट—वेदों की आगता-सबधी विवाद—देवेन्द्र-केशव की अन्तही जोड़ी—'ब्राह्म विद्यालय' और 'इंडियन मिरर'—केशव में मतभेद—फूट का बीजारोपण—प्रथम विभाजन—विभाजन के बाद—बुद्धिवादी ज्ञानमार्गी—देवेन्द्रनाथ की देन—आधुनिक विवेक जनक ।

केशवचन्द्र सेन :

४९-५६

जन्म और शिक्षा-दीक्षा—सार्वजनिक जीवन का श्रीगणेश—'ब्राह्म समाज' के आँगन में—प्रवचनों की धूम—'सगत सभा' और 'इंडियन मिरर'—'प्रथम विभाजन'—देश भर में 'समाज' की शाखाओं की स्थापना—'नवविधान'—'ईसाइयत' का आरोप—विविध सेवाएँ—'ब्राह्म मेरेज ऐक्ट'—'कूचबिहार प्रसंग' : 'द्वितीय विभाजन' और अत—महान् विश्व-धर्म ।

विवेकानन्द :

पृष्ठ ५७-६८

माता-पिता और दादा की देन—असाधारण व्यक्तित्व—सशयवाद के दलदल में—श्रीरामकृष्ण से भेट—श्रीराम-कृष्ण का अनूठा बत्तीव—‘हाँ, मैंने ईश्वर को अपनी आँखों से देखा है’—धृद्धा-मार्ग का पथिक—गुरु-शिष्य का अलग-अलग ढाँचा—‘शिव-शिव’ की रट—पारिवारिक सकट :: गृह-त्याग का निश्चय—निर्विकल्प समाधि—‘नरेन्द्र’ में ‘विवेकानन्द’—देश-भ्रमण—‘भारतमाता’ का साक्षात्कार—अमेरिका में—विश्व-धर्म-परिषद्—व्याख्यानों की धूम :: ‘राजयोग’—‘वेदान्त सोसायटी’ : स्वदेश-वापसी—‘भारत, उठ ! तेरी प्राणशक्ति कहाँ है’—‘दरिद्रनारायण’ मेरा भगवान् है—‘सावधान ! एक प्रचण्ड ज्वार आ रहा है’—विवेकानन्द की देन—नई पीढ़ी के नाम सदेश—महान् युग प्रणेतृ ।

रामतीर्थ :

६९-७६

आरम्भ ही से धर्म के प्रति रुझान—लाहौर का शिक्षा-काल—यन्त्रा भगत—कृष्ण-भक्ति का आवेग—ज्ञान-वैराग्य के आँगन में—विवेकानन्द से भेट—अद्वैतानुभूति—पुनः हिमालय की ओर—गृह-संसार से विदाई—महाभिनिक्रमण—‘तीर्थराम’ से ‘रामतीर्थ’—जापान में : ‘पूरन’ से भेट—अमेरिका में . व्याख्यानों की धूम—वशिष्ठ-आश्रम :: महासमाधि—विश्व-गंगा का तैराक—‘मैं ही भारत हूँ, मैं ही शिव हूँ’—मातृभूमि के उद्धार के लिए आह्वान ।

अब हम अपनी लंबी कहानी के उस महत्वपूर्ण मोड़ पर आ पहुँचे हैं, जहाँ उसका पूर्वार्द्ध समाप्त हो जाता है—हम अपनी मातृभूमि की इस गौरवगाथा के प्राचीन और मध्यकालीन महासर्ग का सीमान्त लॉघकर अब आ खड़े हुए हैं अपने आज के ही युगद्वार पर ! तो फिर आइए, अतीत से विदा हो अब वर्तमान ही की ओर डग भरने की तैयारी करें ।

हमारी शक्ति-कुण्डलिनी

हमने प्रागैतिहासिकता की घुँघली पृष्ठभूमि से आरंभ कर लगभग आठ हजार वर्ष के दीर्घ अचल में पसरी हुई इस देश की सांस्कृतिक विकास-धारा का दिग्दर्शन पिछले प्रकरणों में किया है, और हम यह देखकर चकित हैं कि रह-रहकर हमारे राष्ट्रीय जीवन में चढ़ाव के बाद उतार और वसन्त के बाद पतझड़ का चक्र विधूर्णित होता रहा है, किन्तु उसके कारण न तो हमारी प्राणवाही संस्कृति के इस अक्षुण्ण धाराप्रवाह का ही ताँता कभी टूटते पाया गया है, न इस पुण्य-भूमि की अन्त-रात्मा के मौलिक स्वरूप ही में कोई

विषम अंतर पड़ने दिखाई दिया है । सच तो यह है कि बाहरी या भीतरी किसी भी प्रकार के व्यतीपातो के फलस्वरूप जब कभी भी इस महादेश के आँगन में सकट की घड़ी आ खड़ी होती है, तब सदैव ही हमारी राष्ट्र-शक्ति की सोई हुई कुण्डलिनी किसी सचित पुण्य के प्रभाव से बिजली की तरह तड़पकर जाग उठती है और कभी वाल्मीकि, व्यास, बुद्ध और शंकर जैसे महान् शिक्षकों के रूप में प्रकट होकर, तो कभी मनु, राम, कृष्ण, अशोक, विक्रम और शिवाजी जैसे कर्मयोगी लोकनायकों का स्वरूप धारण



राममोहनराय

कर, वह हमें उस आड़े समय में फिर से सजग और सशक्त बना जाती है । अपने आज के युग में

प्रवेश करने पर भी हम इसी ऐतिहासिक सत्य की पुनरावृत्ति होते देखते हैं । कौन नहीं जानता कि अठारहवीं शताब्दी के उस धूमिल संध्याकाल में बीते युग की सधि-रेखा को लॉघकर जब हमने पहले-पहल वर्तमान की ओर पैर बढ़ाया था, हम किस प्रकार अपनी प्राणशक्ति का सतुलन खोकर एक जराग्रस्त रोगाक्रान्त व्यक्ति की भाँति निश्चेष्ट भाव से परिस्थिति के ढलुवा मार्ग पर लुढ़कने लगे थे—हमारे पैर लड़खड़ा रहे थे और हमारी शक्ति के तार ढीले पड़ गए थे । हमारी राज्यश्री तो श्रीहत हो

ही चुकी थी, साथ ही धर्म और समाज के क्षेत्र में भी हम अन्धरूढ़ियों की जजीरो में अपने आपको जकड़कर केवल भूतकाल ही की ओर टकटकी बाँधे खड़े थे। हमारी वह साहित्य-वाटिका, जिसने कुछ ही समय पहले 'रामचरितमानस' जैसा अनूठा पुष्प प्रदान किया था, वीरान पड़ी थी, और हमारी वह कला की खान भी, जो अभी-अभी तक ताजमहल जैसे रत्नों को उपजाती रही, मानो बाँझ हो चली थी ! हम हतप्रभ थे और एक नवागन्तुक आक्रमणकारी के हाथ न केवल अपना घर-आँगन ही गँवा बैठे थे, बल्कि उसकी भौतिक चमक-दमक से चौधियाकर अपने व्यक्तित्व का भी भान भूलते चले जा रहे थे ! निस्संदेह हमारे लिए वह एक विषम सकट की घड़ी थी !

पुनरुज्जीवन का ज्वार

किन्तु यह सब कुछ हो रहा था फिर भी क्या, हमारे राष्ट्र के मूल तने में तो अब भी उम प्राणदा सस्कृति का अमोघ जीवन-रस प्रवाहित हो रहा था, जो समय पाकर पुनः उसे हरा-भरा बना सकता था — केवल हमारे पुण्य-संस्कारों के फिर से एक बार जोर करने भर की देर थी। कहने की आवश्यकता नहीं कि शीघ्र ही वह नवजागरण का समय भी आया और इस देश के आँगन में फिर से पुनरुज्जीवन का एक ज्वार-सा उमड़ पड़ा। पहले केवल धर्म और समाज के ही क्षेत्र में नवचेतना की वह लहर उच्छ्वसित हुई। तब हमारी राष्ट्र-वीणा के अन्य तार भी झनझनाएँ और राममोहन-राय, दयानन्द, रामकृष्ण, विवेकानन्द, आदि की युगवाणी के बाद दादाभाई, तिलक, गोखले, लाजपतराय और गांधी आदि के नवसंदेश का भी स्वर हिमालय से कन्याकुमारी तक गूँज उठा। साथ ही रवीन्द्र और अरविन्द के आर्षमंत्र भी उद्घोषित हुए और जवाहर तथा सुभाष जैसे अन्यतम राष्ट्रीय कुसुम खिल उठे। इस प्रकार आरंभ हुआ नूतन उमंगों की विद्युत्-चेतना में उल्लसित-ऊँजित इस पुरातन राष्ट्र के पुनरुत्थान का वह महान् अनुष्ठान, जिसने हमारे इतिहास के एक नवीन पर्व का उद्घाटन कर दिया। यह सच है कि अभी हमारे राष्ट्रोद्धार में इस नववसन्त का सुप्रभात पूरी तरह नहीं निखर पाया है—अब भी हमारे राष्ट्रीय क्षितिज पर अनेक काली घटाएँ अवशिष्ट हैं।

किन्तु उपकाल की इस आरंभिक अरुणिमा के बाद निश्चय ही मध्याह्न की प्रखर किरणें भी प्रस्फुटित होंगी ही ! क्या हमारे दिन-पर-दिन उमड़ते हुए सर्वतोमुखी जीवन-ज्वार की ऊर्मियाँ उस उज्ज्वल भविष्य ही की पूर्व-सूचना नहीं हैं ?

पुनरोदय का अग्रदूत

जिस महान् व्यक्ति का परिचय अब हम पाने जा रहे हैं, वह था हमारे इस पुनर्जागरण का पहला अग्रदूत। न केवल इसलिए ही कि कालक्रम में वह आधुनिक युग के हमारे सभी राष्ट्र-निर्माताओं से पहले अवतीर्ण हुआ, बल्कि अपने प्रखर व्यक्तित्व, असाधारण चरित्र और युगान्तरकारी विचारों के कारण भी आज के इतिहास के पन्ने उलटते समय सबसे पहले वही हमारा ध्यान आकर्षित करता है। वही हमारी वर्तमान पीढ़ी का पहला शिक्षागुरु और आज की जागृति का आध्यात्मिक पिता हैं। उसके ही हाथों हमें पहले-पहल इस नए युग की कुंजी मिली। उसने हमारी प्रसूत चेतना के स्वर जगाकर फिर से हमें स्वतंत्रतापूर्वक विचारने, विचरने और कार्य करने की सीख दी। साथ ही भुलाए हुए तह्मलानों में से प्राचीन ज्ञान-निधि को उबारकर फिर से हमारे मन में आत्मसम्मान का भाव जागरूक करने में भी उसने प्रखर योग दिया।

हमारे सभी महान् युगस्रष्टाओं की भाँति वह भी समन्वय और एकता का संदेश लेकर आया था। उसके मन में कट्टरपथियों की-सी विचारसंकीर्णता का लवलेह भी न था। उसका तो कहना था कि सारी मानव-जाति एक ही परम पिता के अधीन एक विशद परिवार के समान है और मसार के सभी महान् धर्म उसी एक परमात्मा की उपासना का निर्देश करते हैं। अपनी इस सार्वभौम उदार विचारधारा में वह बहुत-कुछ हमारे उपनिषद्-कालीन तत्त्वचिन्तकों और मध्ययुग के सन्तों के समकक्ष था और उन्हीं की भाँति एकेश्वरवाद की भिन्नि पर प्रस्थापित एक उदार विश्व-धर्म का स्वप्न उसने अपनी आँखों में बसा रक्खा था। यद्यपि अन्य अनेक स्वप्न-द्रष्टाओं की तरह उसका भी यह सपना एक सीमा तक ही साकार बनकर रह गया—उसकी चरम सिद्धि न हो पाई, फिर भी इस देश को जो युग-दान वह दे गया, उसका प्रकाश चिर-काल तक हमारे इतिहास को आलोकित करता

रहेगा, इसमें किसे सदेह हो सकता है ? निश्चय ही जब कभी भी हमारी मातृभूमि की आत्मकथा के आधुनिक पर्व का प्रथम पृष्ठ खोलकर देखा जायगा, वहाँ पहली पंक्ति में सदैव उज्ज्वल अक्षरों में अंकित दिखाई देगा इस महान् युगस्रष्टा ही का नाम— 'राममोहनराय !'

जन्म और शिक्षा-दीक्षा

अठारहवीं शताब्दी का उत्तरार्द्धकाल—आज से लगभग पौने दो सौ वर्ष पूर्व का युग । भारत में अंग्रेजी साम्राज्य की नींव पड़ चुकी थी और पश्चिम की राजनीतिक सत्ता की प्रस्थापना के साथ-साथ उसकी संस्कृति की भी आँधी आकर इस देश के कले-वर को पहले-पहल झकझोरने लगी थी । हम अपने उतार की निम्नतम अवस्था में थे और हमारे नव-सर्जन की शक्ति एकदम शिथिल और निश्चेष्ट-सी पड़ी थी । हम एक अभूतपूर्व सांस्कृतिक संकट की चिन्ताजनक दशा में से गुजर रहे थे—यदि एक ओर हमारा कट्टरपन्थी जनवर्ग केवल धार्मिक कूपमण्ड-कता और अधःकुरीतियों के साथ चिपके रहने ही में जीवन की सार्थकता समझकर किसी भी प्रकार के पुनर्संस्कार को स्वीकार न करने पर तुल जा बैठा था, तो दूसरी ओर क्रमशः ऐसा एक वर्ग भी हमारे समाज में पैदा होने लगा था, जो अपनी निजी संस्कृति को हेय मानकर प्रत्येक बात में पश्चिम ही की ओर सन्तुष्ट नेत्रों से निहारने और उसी के रंग के अनुसार अपना रंग बदलने की ओर प्रवृत्त हो रहा था । इसी अधकारपूर्ण वातावरण की डावों-डोल स्थिति में, बंगाल के एक छोटे-से गाँव राधानगर के एक ब्राह्मण जमींदार रामकान्तराय के घर, २२ मई सन् १७७२ ई० (अथवा किसी-किसी के मतानुसार १७७४ ई०) के दिन हमारे चरितनायक राममोहनराय का जन्म हुआ ।

उन दिनों का बंगाल क्या था, मानो विविध बे-मेल संस्कृतियों के घालमेल का एक अजीब नमूना था । इसका सबसे बड़िया उदाहरण वहाँ के विभिन्न वर्गों पर अपना-अपना सिक्का जमाएँ बैठी उन विविध भाषाओं की कशमकश में पाया जा सकता था, जो वहाँ प्रचलित हो रही थी । अभी-अभी वहाँ मुस्लिम नवाबी का अंत और अंग्रेजी सत्ता का दबदबा स्थापित हुआ था । अतएव जहाँ नवागन्तुक ग़ोरे शासकों के निकट ससर्ग में आनेवाले कुछ

लोग अंग्रेजी बोली से ही काम लेने लगे थे, वहाँ शासन-तन्त्र के अधिकांश क्षेत्र में फारसी-अरबी का ही आधिपत्य था—वहाँ अब भी मानो नवाबी ही का जमाना बना हुआ था ! इसी तरह जब कि जनसाधारण में प्रान्तीय बोली बंगला का ही प्रचलन था, वहाँ धर्म और पाण्डित्य के क्षेत्र में अब भी संस्कृत ही का प्रभुत्व प्रस्थापित था, जिसमें कि सारा हिन्दू धार्मिक साहित्य सुरक्षित है । दैवयोग से हमारे चरितनायक का जन्म एक ऐसे परिवार में हुआ, जिसमें पिछली पाँच पीढ़ियों से लगा-तार राजकीय संपर्क रहने के कारण फारसी-अरबी ही का बोलवाला था । अतएव अपने कुटुंब के वायुमंडल के अनुसार उनकी आरंभिक शिक्षा मातृभाषा बंगला के अलावा इन्हीं दो भाषाओं की छत्रछाया में हुई । वह बचपन से ही एक मोलवी के अधीन पढ़ने को बिठाए गए और जब उसके हाथ से छूटे, तो उच्च शिक्षा के लिए पटना भेज दिए गए, जा उन दिनों फारसी-अरबी का प्रमुख शिक्षा-केन्द्र था ।

सूफी मत और उपनिषदों का प्रभाव

किन्तु जहाँ पितृपक्ष की ओर से उन्हें इस प्रकार अरबी-फारसी के मोलवियों के मकतबों में बैठने को मिला, वहाँ मातृपक्ष की बदौलत सौभाग्य से संस्कृत का भी अध्ययन करने का उन्हें समुचित अवसर मिलता रहा । कारण, उनकी माता तारिणीदेवी एक ऐसे कुल से आई थी, जहाँ ब्राह्मणोचित धर्म-कर्म और पूजा-पाठ की परम्परा जारी रहने के फल-स्वरूप अब भी संस्कृत-विद्या के पठन-पाठन की परि-पाटी प्रचलित थी । इसी दोहरे प्रभाव के कारण पटना में फारसी-अरबी के काव्य, साहित्य, दर्शन और इस्लामी धर्मशास्त्र का अध्ययन कर चुकने पर, दो-ढाई वर्ष तक संस्कृत के महान् केन्द्र काशी में विद्याभ्यास कर उन्होंने वेद, उपनिषद्, वेदान्त आदि का भी मनोयोगपूर्वक अनुशीलन किया । इस बहु-मुखी शिक्षा का एक सुफल यह हुआ कि आरम्भ ही से उनका दृष्टिकोण बहुत ही समुन्नत और विशद बन गया । वह सूफी रहस्यवाद तथा औपनिषदिक तत्त्वज्ञान की गहराई में पड़कर उस परम सत्य की झाँकी पा गए, जिसे जान लेने पर फिर विविध मत-मतान्तरों का बाह्याडंबर एक थोथा ढकोसला-सा प्रतीत होने लगता है ।

अतः जब पढ़-लिखकर वह वापस घर आए, तो अपने उस प्रगतिशील दृष्टिकोण के कारण स्वभावतः ही उन्हें अपने परिवार और समाज में उग्र रूप से प्रचलित धार्मिक रूढ़िवाद, बहुदेवोपासना तथा मूर्ति-पूजा आदि बातें बेहद खटकने लगीं। स्वभावतः इनकी पग-पग पर आलोचना करते हुए, उन्होंने अपने प्राचीन धर्म-ग्रंथों के अनुसार खुलकर यह उद्घोषित करना आरम्भ किया कि धर्म का वास्तविक स्वरूप केवल एक ही अनिवर्चनीय अद्वितीय परमात्मा के अमूर्त रूप की आराधना करना ही है, बाकी सब निरा प्रप्रदायवादियों का जजाल है !

समाज से टक्कर :: घर-परिवार से निर्वासित

जरा सोचिए तो कि जो व्यक्ति पन्द्रह-सोलह वर्ष की अल्पायु ही में इस प्रकार धर्म के जटिल प्रश्न पर एक रूढ़िवादी कट्टर समाज की उग्र आलोचना करने और उसे एक नया पाठ पढ़ाने का साहस दिखा सकता हो, उसमें प्रतिभा और विचार-स्वातंत्र्य के क्या-क्या बीज न छिपे होंगे ? साथ ही अपने इन विद्रोही विचारों के मूल्य के रूप में उसे उस समाज के हाथों क्या-क्या दंड भी न भुगतना पड़ा होगा ? यद्यपि राममोहन के उन दिनों के जीवन-संग्राम का अधिक हाल उपलब्ध नहीं है, फिर भी इतना हम जानते हैं कि अपने इन उग्र विचारों के कारण उन्हें अंत में एक दिन अपना घर-द्वार तक छोड़ देने को विवश हो जाना पड़ा। उनकी न केवल समाज ही से बल्कि स्वयं अपने परिवार से भी न पट सकी। वह लगभग चार वर्ष तक यहाँ से वहाँ भटकते हुए देश-विदेश की खाक छानते रहे। कहते हैं, जानार्जन की पिपासा से प्रेरित हो, इन्हीं दिनों हिमालय की बर्फीली श्रेणियों को लांघ वह तिब्बत के वर्जित प्रदेश का भी एक चक्कर लगा आए ! वहाँ बौद्ध मत के प्रचलित विकृत रूप के सम्बन्ध में उनकी कटु आलोचना और एकेश्वरवाद के उनके सिद्धान्त से कुछ धर्मान्ध लामा पुरोहित इतने अधिक चिढ़ गए कि वे उनकी जान लेने पर ही उतारू हो गए ! कहते हैं, बड़ी कठिनाई से अपने प्राण बचाकर वह वहाँ से भाग पाए और लौटकर वापस स्वदेश आए !

इस बीच पिता रामकान्तराय ने स्थान-स्थान में हरकारे भेजकर अपने इस विद्रोही पुत्र की गहरी खोज करवाई और जब उन्हें उसका पता लगा, तो

बड़े आग्रहपूर्वक वापस घर बुलाकर उन्होंने फिर से उसे गले लगा लिया। साथ ही यह सोचकर कि संभवतः गृहस्थी के मायाजाल में उलझकर वह अपनी उन विद्रोही भावनाओं को सदा के लिए छोड़ दे, उन्होंने उसका विवाह भी कर दिया। परन्तु युवक राममोहन के मन में जो क्रान्तिमूलक सुधारवादी प्रवृत्ति जड़ जमा चुकी थी, वह यो सहज ही में उखड़नेवाली न थी। वह हिन्दू जाति का पूर्णतया पुनर्संस्कार कर उसे फिर से अपने प्राचीन आदर्श तक ऊँचा उठाने का स्वप्न मन ही मन देख रहे थे। अतएव ज्योंही अवसर मिला, वह फिर से अपनी पुरानी आवाज बूलन्द करते हुए समाज के मैदान में उतर पड़े। लोहे की चोट लोहे पर बजी और पुनः उनके शत्रु कट्टरपन्थियों ने उन्हें घर से निकलवाकर ही दम लिया !

पहली पुस्तक :: ‘एकेश्वरवादियों को उपहार’

इधर भाग्य ने एक और बला उनके सिर मढ़ दी— उनके उसी वर्ष एक पुत्र पैदा हुआ। इस बला के कारण अपने साथ-साथ परिवार के भरण-पोषण की भी चिन्ता अब उनके सामने आ खड़ी हुई। किन्तु राममोहन इन सब आपदाओं से विचलित होनेवाले जीव न थे। उन्होंने इस निर्वासनकाल में भी ज्यों-का-त्यों अपना संग्राम जारी रखा और इन्हीं दिनों मुंशिदाबाद से अपनी वह प्रसिद्ध फारसी पुस्तिका—‘तुहफतुलमुवहिदीन’ (अथवा ‘एकेश्वरवादियों को उपहार’)—प्रकाशित की, जो उनकी कृतियों में सबसे प्रारम्भिक मानी जाती है।

इस छोटी-सी रचना द्वारा हमें राममोहनराय के धर्म-विषयक उदार दृष्टिकोण तथा उनकी एकेश्वरवादी प्रस्थापना का बहुत-कुछ आभास मिल जाता है। साथ ही उसमें हमें उनके गहन पांडित्य, अकाट्य तर्क और सुलझे हुए मस्तिष्क की भी काफी झलक देखने को मिल सकती है। कहने की आवश्यकता नहीं कि इस पुस्तक के प्रकाशन के बाद से उनके और कट्टरपन्थी समाज के बीच की खाई और भी अधिक चौड़ी हो चली। परन्तु साथ ही साथ इस देश की उगती हुई नई पीढ़ी पर क्रमशः उनका प्रभाव भी पड़ने लगा और अनेक सच्चे ज्ञानपिपासुओं का ध्यान उनके विचारों की ओर गहराई के साथ आकृष्ट होने लगा। यह राममोहन के जीवन के रचनात्मक पर्व का प्रथम अध्याय था।

इसके कुछ ही समय बाद अपनी आर्थिक उल-झनों से छूटकारा पाने के उद्देश्य से राममोहन ने ईस्ट इंडिया कंपनी के अधीन रंगपुर की कलकत्ती में नौकरी कर ली, और शीघ्र ही अपनी प्रतिभा के बल से वह एक साधारण क्लर्क की स्थिति से उठकर जिले की दीवानगिरी के ऊँचे पद तक पहुँच गए। इस बीच अंग्रेजी के साथ-साथ लैटिन, ग्रीक और हीब्रू भाषा की भी जानकारी पाकर उन्होंने ईसाई धर्म का गहन अध्ययन करना आरम्भ किया। साथ ही जैन मत और तन्त्र-संप्रदाय के प्रमुख ग्रंथों के अनुशीलन की ओर भी अपना हाथ बढ़ाया। इसके अतिरिक्त पंडितों से मिलकर रात-दिन धर्म के विभिन्न पहलुओं पर वाद-विवाद करने, अपने विचारों के प्रतिपादन के लिए बँगला और फारसी में छोटी-छोटी पुस्तिकाएँ लिखने तथा वेदान्त-विषयक संस्कृत-ग्रंथों के पठनीय महत्त्वपूर्ण अंशों का अनुवाद प्रस्तुत करने का भी उनका कार्यक्रम लगातार जारी था। इस प्रकार जब सभी धर्मों और मत-मतान्तरों की विचारधाराओं के समुचित ज्ञान तथा अपने शेष जीवन की आर्थिक कठिनाइयों से मुक्त रखने के लिए आवश्यक सामग्री से वह सुसज्जित हो लिए, तब निश्चित होकर अपना सारा समय लोकहित और जीवनादर्श की सिद्धि में ही लगाने के उद्देश्य से उन्होंने चालीस वर्ष की आयु में अपने उस उच्च सरकारी पद से त्यागपत्र दे दिया।

यह उल्लेखनीय बात है कि अवकाश-ग्रहण के बाद राममोहन ने पुनः अपने पैतृक गाँव ही में जाकर रहने का निश्चय किया, जहाँ उनके पिता तो अब नहीं रह गए थे, किन्तु माता अब भी विद्यमान थी। परन्तु राधानगर का दकियानूस समाज और स्वयं उनका अपना परिवार उन्हें अब भी अपनाने को राजी न था। अतएव विवश हो उन्होंने कलकत्ते में अपर सर्कूलर रोड पर एक कोठी खरीद ली और १८१४ ई० के लगभग वही स्थायी रूप से अपना आसन जा जमाया।

जीवन का द्वितीय अध्याय :: 'आत्मीय सभा'

यही से उनके जीवन का दूसरा और सबसे महत्त्वपूर्ण अध्याय आरम्भ हुआ। अब उनके पास प्रचुर अवकाश था, धन भी था, और था लगभग तीस वर्ष के अध्यवसाय द्वारा कमाया गया ससार

के प्रमुख धर्मों, दार्शनिक विचारधाराओं और पूर्व-पश्चिम की अनेक नई-पुरानी भाषाओं का प्रकाण्ड ज्ञान ! उन्हें अब कोई नई कमाई करने की आवश्यकता न थी, बल्कि अब तक संचित अपनी ज्ञान-निधि ही को वितरित कर देश की सोई हुई आत्मा को फिर से जगा देने ही का काम उनके सामने अवशेष था। इसके लिए कलकत्ते से अधिक उपयुक्त दूसरा कोई कार्यक्षेत्र भी नहीं हो सकता था, क्योंकि भारत में अंग्रेजी सत्ता की राजधानी होने के नाते वह उन दिनों पूर्व और पश्चिम के सम्मिलन का मानो प्रधान सगम-स्थल हो रहा था।

राममोहन ने देखा कि उन्हीं की भाँति इस देश के पुनरुत्थान की कामना मन में बसाए हुए कुछ ऐसे लोग भी समाज में हैं, जो भारतीय जीवन को तत्कालीन निष्क्रियता के दलदल में से निकालकर एक नवीन गति देने के लिए हृदय से उत्कण्ठित हैं। किन्तु उपयुक्त नेतृत्व के अभाव में वे कुछ कर-धर नहीं पा रहे हैं। अतएव कलकत्ते में डेरा-तबू गाड़ते ही, सबसे पहले उन्होंने इस प्रकार के उत्साही लोगों को एक ही सामान्य मंच पर सगठित करने का निश्चय किया। इसी उद्देश्य से प्रेरित हो 'आत्मीय सभा' के नाम से एक सुधारक संस्था की प्रस्थापना उन्होंने की, जिसका लक्ष्य वेदों और उपनिषदों में वर्णित एक ही अलख अंगोचर ब्रह्म की उपासना करना घोषित किया गया। इसके अलावा, भारत की प्राचीन ज्ञान-गंगा को संस्कृत की दुरुह घाटी से उतारकर जनक्षेत्र में लाने के अभिप्राय से, उन्होंने एक साथ ही बँगला और अंग्रेजी में उपनिषदों और वेदान्त-सूत्रों का अनुवाद भी प्रकाशित करना शुरू किया।

धर्मध्वजी पंडितों से संघर्ष

सबसे पहले १८१५ ई० में वेदान्त-सूत्रों पर उनका एक ग्रंथ बँगला में प्रकाशित हुआ। तदु-परान्त दूसरे वर्ष उसके उर्दू और अंग्रेजी संस्करण भी निकल आए, और तब क्रमशः केन, ईश, कठ, मुण्डक और माण्डूक्य नामक उपनिषदों के भी अंग्रेजी और बँगला अनुवाद उन्होंने प्रस्तुत कर दिए। इन प्रकाशनों के एक के बाद एक धड़ाधड़ सामने आने और उनकी पांडित्यपूर्ण भूमिकाओं में राममोहन की लौह लेखनी द्वारा धर्म के बाह्याडम्बर में उलझे हुए लोगों पर अनवरत प्रहार के फल-स्वरूप, हिन्दू समाज के तथाकथित कर्णधारों का

दिल दहल उठा और उन्होंने इस नए मोर्चे पर भी इस विद्रोही का सामना करने के लिए कमर बांधना शुरू किया। सबसे पहले मद्रास के गवर्नमेण्ट कालेज के शकर शास्त्री नामक किसी अध्यापक ने दिसंबर, १८१६ ई०, के 'मद्रास क्रियर' नामक अंग्रेजी पत्र में कटु आलोचना करते हुए उन पर आक्रमण किया, जिसका प्रत्युत्तर राममोहन ने 'ए डिफेंस आफ हिन्दू थीड्ज्म' (अर्थात् 'हिन्दू आस्तिकवाद का मण्डन') शीर्षक अपनी सुप्रसिद्ध अंग्रेजी रचना द्वारा दिया। इसके शीघ्र ही वाद मद्रास के पंडितों का पक्ष लेते हुए स्वयं उनके ही अपने प्रान्त बंगाल के कई धर्मध्वजी गोस्वामी और भट्टाचार्य भी एक साथ ही उन पर टूट पड़े। इस प्रकार मूर्तिपूजा और बहुदेवोपासना के पक्ष-विपक्ष में वाद-विवाद का एक घोर संग्राम-सा छिड़ गया, जिसमें एक ओर थे अकेले राममोहनराय, जो अपने गहन शास्त्र-ज्ञान और अकाट्य तर्क के बल पर प्राचीन भारतीय धर्म के अनुसार केवल एक ही निर्गुण ब्रह्म का प्रतिपादन कर हमारी धर्म-मदार्किनी में वाद को उत्पन्न हो जानेवाली पकरूपी अध भावनाओं का खडन कर रहे थे, तो दूसरी ओर हर प्रकार के प्रगतिशील परिवर्तन की राह में रोड़ा अटकाने के लिए उद्यत हमारा वह कट्टर अध समाज था, जिसकी एकमात्र युक्ति थी उन रूढ़ियों को दुहाई देना, जो शास्त्रों से भी अधिक उनके मन पर अपना आधिपत्य जमाए हुए थी।

ईसाई मिशनरियों से विवाद

इसी बीच ईसाई मत के त्रिमूर्तिवाद और ईसा मसीह की अलौकिकता के प्रश्न को लेकर कलकत्ते के समीप सीरामपुर में अड़्डा जमाए हुए विदेशी ईसाई मिशनरियों के साथ भी उनका एक लम्बा और कटु विवाद छिड़ गया। बात यह हुई कि सभी धर्मों के शाश्वत सत्य के प्रति श्रद्धा का भाव रखनेवाले उदारमना राममोहन ने अपने एक ईसाई मित्र पादरी आदम और अन्य एक योरपीयन की सहायता से बाइबिल के कुछ अशो का बँगला में अनुवाद किया था। इसके अलावा अलग से 'प्रिसेप्ट्स ऑफ जीसस' (अर्थात् ईसा के धर्म-नियम) के नाम से एक अंग्रेजी पुस्तक भी उन्होंने १८२० ई० में प्रकाशित की थी, जिसमें बाइबिल में से ईसा के प्रमुख उपदेशों को चुनकर एक सकलन के रूप में

प्रस्तुत करने का प्रयास किया था। इस संग्रह में उन्होंने बाइबिल के ऐसे अशो को जानबूझकर छोड़ दिया था, जिसमें किसी प्रकार के अलौकिक चमत्कारों अथवा अन्य करामातों का उल्लेख था। कारण, एक तो इन बातों में उनका विश्वास न था, दूसरे हमारे लिए इन बातों का कोई महत्त्व भी न था। परन्तु यह काँट-छोट भला उन धर्मान्ध मिशनरियों को क्योंकर सहन हो सकती थी! उन्होंने इस चेष्टा से बेतरह रुष्ट होकर 'फ्रेड ऑफ इन्डिया' और 'समाचार-दर्पण' नामक अपने पत्रों में अत्यन्त कटुतापूर्वक राममोहनराय पर धावा बोल दिया। साथ ही मानों बदला चुकाने के लिए हिन्दू धर्म और संस्कृति पर भी अशोभनीय रीति से कीचड़ उछालना शुरू किया। पर राममोहन इन प्रहारों से दब जानेवाले व्यक्ति न थे। उन्होंने एक ओर तो पुनः 'ए सैकण्ड डिफेंस ऑफ दी मॉनोथीस्टिकल सिस्टम ऑफ दी वेदाज' (अर्थात् 'वेदों के ऐकेश्वरवाद का पुनर्मण्डन') शीर्षक एक ट्रैक्ट लिखकर अपने सहधर्मियों आलोचकों का मुँह बन्द कर दिया। दूसरी ओर अपने नवसंस्थापित 'ब्राह्मनिकल मैगेजीन' नामक अंग्रेजी पत्र में ईसाई जगत् के नाम क्रमशः अपनी तीन प्रसिद्ध 'अपीले' निकालकर उन मिशनरियों के मिथ्या आरोपों का भी करारा जवाब दे दिया। इन अपीलों द्वारा ईसाई धर्म-सम्बन्धी अपने गहन ज्ञान का परिचय देकर उन्होंने विलायत तक के धर्मशास्त्रियों की आँखें खोल दीं।

पादरी आदम का प्रसंग

इन्हीं दिनों घटनाचक्र ने एक और रंग बदला। उनके उपर्युक्त विवाद का उनके अन्तरंग मित्र पादरी आदम पर इतना गहरा प्रभाव पड़ा कि वह सीरामपुर के 'ट्रिनिटेरियन' (त्रिमूर्तिवादी) चर्च से किनारा कसकर 'यूनिटेरियन' (ऐकेश्वरवादी) बन गया। साथ ही कुछ मित्रों के सहयोग से उसने कलकत्ते में एक पृथक् यूनिटेरियन उपासनालय भी प्रस्थापित कर लिया, जिसकी नियमित प्रार्थनाओं में राममोहन भी शरीक होने लगे। इस पर लोगों में यह भ्रम फैलने लगा कि राममोहनराय विधिवत् ईसाई बना लिए गए। परन्तु राममोहन-जैसे उदारचेता महापुरुष का व्यक्तित्व भला साधारण जनो की समझ में क्योंकर आ सकता था—वह कोई मामूली व्यक्तित्व तो था

नहीं ! वस्तुतः यह महान् सत्यान्वेषक यदि किसी भी मत-मतान्तर के आँगन की ओर उत्साहपूर्वक अपने कदम बढ़ाता था, तो इसका यह अर्थ तो था नहीं कि वह उसके बाह्याङ्गम्वर के जजाल में भी उलझने का रहा हो ! वह तो केवल इसीलिए प्रत्येक मत की तरह में छिपे हुए शाश्वत तत्त्व के प्रति श्रद्धापूर्वक शीघ्र झुकाता था कि उसमें उसे अपने उस महान् आदर्श की कुछ-कुछ आभा दिखाई पड़ती थी, जिसे पिछले चालीस वर्षों से उसने अपने अन्तस्तल में बसा रखा था। उसका वह आदर्श विश्व-धर्म ही उसकी आत्मा की प्यास पूरी तरह बुझा सकता था, किसी विशिष्ट संप्रदाय या मत विशेष की मृगमरीचिका नहीं। वह तो देख रहा था एक ऐसी सार्वभौम विश्व-वेदी का सपना, जिसका मंच सकीर्ण साम्प्रदायिकता, अध रूढ़िवादिता और भेद-भावमूलक ऊँच-नीच की भावनाओं के दलदल से एकदम ऊपर उठा हुआ हो और जिसके अन्तर्गत एकेश्वरवाद के अडिग सिद्धान्त पर स्थापित सभी धर्मों के शाश्वत सत्य जगह पा सकें।

‘ब्राह्म समाज’ की स्थापना

अपने कल्पनालोक में बसे हुए उस सार्वजनीन धर्म-आँगन का कुछ-कुछ आभास वह अब से चौदह वर्ष पूर्व ‘आत्मीय सभा’ के रूप में एक प्रयोगात्मक संस्था की स्थापना कर दे चुका था। परन्तु उसकी संपूर्ण रूपरेखा तो अब भी वाष्पीभूत नीहारिका की भाँति अभिव्यक्ति का मार्ग खोजते हुए उसके मानसाकाश में उमड़-धुमड़कर मूर्त रूप ग्रहण करने के लिए उपयुक्त अवसर की प्रतीक्षा कर रही थी। अन्त में वह चिरप्रतीक्षित शुभ घड़ी भी आ पहुँची और २० अगस्त, सन् १८२८ ई०, के दिन सभी जातियों, वर्णों और संप्रदायों के लोगों को एक ही अलख अद्वितीय परमात्मा की आराधना-उपासना के लिए आमन्त्रित कर राममोहन-राय ने अपने चिरस्मारक ‘ब्राह्म समाज’ के रूप में उस विश्व-वेदी का उद्घाटन कर दिया। निश्चय ही वह दिन न केवल उनके ही अपने जीवन का प्रत्युत सारे ससार के धार्मिक इतिहास का एक महत्त्वपूर्ण पर्व-दिवस था।

इस महान् धर्म-संस्था की प्रतिष्ठा कर राममोहन ने किसी नए मत-मतान्तर या पृथक् संप्रदाय का जंजाल खड़ा करने का प्रयास नहीं किया था। उन्होंने

तो सभी धर्मों की उच्च शिक्षाओं के तत्त्व से अभिसिंचित एक सामान्य पृष्ठभूमि मात्र तैयार कर दी थी। उस पृष्ठभूमि पर एकत्रित होकर सब कोई बिना किसी भेदभाव के कंधे से कंधा मिलाकर उस जगन्नि्यता की आराधना-उपासना में प्रवृत्त हो सकते थे। स्वयं उन्होंने ही डेढ़ वर्ष बाद कलकत्ते के प्रथम ब्राह्म मंदिर के उपासनालय के उद्घाटन के अवसर पर उसके प्रख्यात विधान-पत्र (ट्रस्ट-डीड) में निम्न ज्वलन्त शब्दों द्वारा अत्यन्त व्यापक रूप में इस महान् संस्था के आदर्श और उद्देश्यों का सुस्पष्ट आलेख कर दिया था:—

“..... (यह स्थान) बिना किसी भेद-भाव के सभी जातियों और वर्णों के ऐसे व्यक्तियों के एकत्रित होने के लिए है, जो उस विश्व-नियन्ता, जगद्पालक, अनंत, अज्ञेय, अविनश्वर परमात्मा की सद्भावनापूर्वक आराधना-उपासना करने के लिए प्रस्तुत हैं— किन्तु किसी विशिष्ट व्यक्ति या संप्रदाय द्वारा आरोपित विशेष नाम-रूप के आधार पर नहीं। न इस उपासनालय की परिधि में कभी किसी की मूर्ति, प्रतिमा या चित्र आदि का प्रवेश होने दिया जाय, ... न किसी प्राणी की हिंसा यहाँ होने दी जाय, ... न पूजा आराधना के क्रम में किसी भी व्यक्ति या संप्रदाय द्वारा मान्य किसी भी जड़-वस्तु वस्तु की निन्दा के रूप में कभी कोई बात यहाँ कही जाय, ... न उक्त आराधना के समय ऐसे प्रवचनों, प्रार्थनाओं और धर्म-स्तोत्रों के सिवाय— जो कि हमें उस विश्व-स्रष्टा जगद्पालक के स्मरण-चिन्तन की ओर प्रवृत्त कर अधिकाधिक परोपकार, नीतिपालन, धार्मिकता, उदारता और सदाचरण की ओर ही अग्रसर कर सकें और सभी धर्मों एवं जातियों के मनुष्यों में परस्पर एकता का बंधन सुदृढ़ बनाने में योग दे सकें— अन्य किसी प्रकार के प्रवचनादि का ही यहाँ कभी प्रयोग किया जाय।”

एक नवीन युगान्तर की सूचना

इस प्रकार बहुत दिनों से उजाड़-सी पड़ी हुई हमारी धर्म-वाटिका में फिर से एक नवीन पौधा अकुरित हुआ। यह पौधा था तो बहुत ही नन्हा-सा, फिर भी हमारे लिए एक नए युगान्तर का द्योतक था। क्योंकि वह हमारे लिए और कुछ लाया हो या न लाया हो, परन्तु इस बात की सूचना तो अवश्य ही लेकर वह आया था कि फिर से हमारे

राष्ट्रीय जीवन में एक नूतन वसन्त का प्रस्फुटन होने-वाला था ! वह हमारे लिए एक नवीन युगधारा का प्रतीक था । यद्यपि उसका उद्भव और विकास एक विशुद्ध धर्म-संस्था के ही रूप में हुआ था, किन्तु उसका व्यापक प्रभाव हमारे राष्ट्रीय जीवन के समूचे आँगन पर पड़ा । उसने परोक्ष अथवा अपरोक्ष भाव से हमारे जीवन के प्रत्येक अंग में नूतन चेतना का स्वर जगाने में योग दिया । यही हमारे लिए उसकी सबसे अधिक महत्त्व की देन थी । इसके कारण हमारे इतिहास का एक पूरा अध्याय युग-युग तक के लिए उसकी गौरव-प्रशस्ति से आलोकित रहेगा, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं ।

ब्राह्म समाज का स्वरूप और महत्त्व

इस सार्वजनीन धर्म-संस्था की स्थापना करने में जिन लोगों ने प्रमुख रूप से राममोहनराय का हाथ बढ़ाया था, उनमें महाकवि रवीन्द्रनाथ के पितामह प्रसन्न द्वारकानाथ ठाकुर, पंडित रामचन्द्र विद्यावागीश, कालीनाथ राय, चंद्रशेखर दे, प्रसन्नकुमार ठाकुर और ताराचन्द्र चक्रवर्ती के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं । आरम्भ में इस संस्था का नाम 'ब्राह्म सभा' रखा गया था, पर बाद में बदलकर वही 'ब्राह्म समाज' कर दिया गया । प्रति गनिवार को सायंकाल ७ से ९ बजे तक उसकी नियमित बैठक होती थी । उसमें उपनिषदों के कुछ चुने हुए अंशों के पाठ तथा बँगला में उनकी व्याख्या के अतिरिक्त बँगला ही में एक धर्म-प्रवचन भी होता था और राम-मोहन द्वारा रचित कुछ धर्म-गीत भी गाए जाते थे । लगभग सभी वर्ण और जाति के लोग इस उपासना में सम्मिलित होते थे । उन पर किसी भी प्रकार के शुल्क, प्रवेश-नियम आदि का बन्धन न था ।

इस नई संस्था का आगे चलकर क्या स्वरूप हो गया और वह क्या से क्या हो गई, यह हम उसके अन्य दो भावी महान् नेता देवेन्द्रनाथ ठाकुर और केयवचन्द्र सेन से परिचय पाते समय देखेंगे । यहाँ तो एक पाश्चात्य विद्वान् प्रो० जकरियास के शब्दों में केवल यही भर मूर्चित कर उसके महत्त्व की ओर निर्देश कर देना पर्याप्त होगा कि "राम-मोहनराय और उनका यह ब्राह्म समाज ही हिन्दू धर्म, समाज या राजनीति के क्षेत्र में समुच्छ्वसित उन सभी सुधारमूलक आंदोलनों की युग-धाराओं के मूल स्रोत के रूप में हमें दिखाई देते

हैं, जिन्होंने विगत सौ वर्षों में भारत को हिलाया और जगाया है, और जिनके कारण इस देश का वर्तमान युग में आकर ऐसा अद्भुत पुनरुत्थान हो पाया है ।"*

समाज-सुधार के क्षेत्र में

यह तो हुआ हमारे महान् चरितनायक की दिव्य देन के केवल एक ही विशिष्ट पहलू—अर्थात् धर्म के क्षेत्र में उसके महत्त्वपूर्ण कार्य—का ही संक्षिप्त दिग्दर्शन । पर वस्तुतः क्या धर्म और दर्शन, क्या समाज और राजनीति, क्या शिक्षा और साहित्य, आदि हमारे राष्ट्रीय जीवन का ऐसा कोई अंग नहीं था, जो उसके कार्यक्षेत्र की परिधि से बाहर छूट गया हो ! उसने सभी और अपना सुधारवादी हाथ बढ़ाया और उन्हें अपनी प्रतिभा द्वारा अनुप्राणित कर दिया । कौन नहीं जानता कि उसके ही अनवरत आंदोलन की बदौलत इस देश में 'सती-दाह' जैसी अमानुषिक सामाजिक कुप्रथा का राजकीय विधान द्वारा अंत हुआ । इस कुप्रथा की आड़ में हमारा अधः समाज प्रति वर्ष हजारों नव-विधवाओं को जबरन डंडों से धकेलकर मृत पति की चिता पर जिन्दा ही जला डालता था । स्वयं राममोहन ही के अपने परिवार में उनके बड़े भाई जगमोहन की अबला पत्नी का इसी प्रकार दारुण अंत हुआ था । लाख प्रयत्न करने पर भी वह बेचारे उसे चिता की आग से बचाने में सफल न हो सके थे । तभी से उन्होंने यह दृढ़ संकल्प कर लिया था कि इस गहिर्न अनाचार की जड़ उखाड़कर ही वह चैन लेंगे ।

उन्होंने इस क्रूर प्रथा को मूल भारतीय संस्कृति और धर्म के बिल्कुल विरुद्ध और शास्त्र द्वारा अवैध प्रमाणित करते हुए सन् १८१८ ई० में एक ट्रैक्ट या पुस्तिका प्रकाशित की । तदनन्तर उसके खिलाफ जोरदार आंदोलन शुरू कर उसके हिमायतियों के लाख हाथ-पैर पटकने पर भी, लगानार दस वर्ष तक जूझकर, तत्कालीन गवर्नर-जनरल लार्ड बैन्टिंक द्वारा १८२९ ई० में सती-दाह-निषेधक कानून बनवा दिया । इस प्रकार सदा के लिए हिन्दू समाज के इस निन्दनीय कलक को धोकर ही उन्होंने दम लिया । इसी तरह बंगाल के सामाजिक जीवन में महामारी की भाँति प्रचलित 'कुलीन-प्रथा' के विरुद्ध भी उन्होंने

*प्रो० जकरियास कृत 'रिनासेंट इंडिया' (पृ० २३) ।

अपनी आवाज उठाई। साथ ही भारतीय स्त्रियों की तत्कालीन शोचनीय दशा के प्रति ध्यान आकर्षित करते हुए, आज से एक शताब्दी पूर्व ही विधवाओं के पुनर्विवाह, अतर्जातीय विवाह, स्त्रियों के सपत्ति-विषयक अधिकार तथा शिक्षा-दीक्षा के महत्त्व पर भी उचित प्रकाश डाला। इस संबंध में 'वर्तमान समाज द्वारा स्त्रियों के प्राचीन अधिकारों के अपहरण सबधी कुछ विचार' (१८२२ ई०) तथा 'बंगाल के सामाजिक विधानानुसार पतृक सपत्ति-विषयक हिन्दुओं के अधिकार' (१८३० ई०) नामक उनके दो निबन्ध पढ़ने योग्य हैं। वस्तुतः स्त्रियों के हितों की रक्षा के लिए लड़ाई लड़नेवाला राममोहनराय से अधिक उत्साही दूसरा कोई नेता इस देश में आज के युग में न हुआ।

शिक्षा और साहित्य के प्राङ्गण में

इसी प्रकार शिक्षा के क्षेत्र में भी 'हिन्दू कॉलेज', 'इंग्लिश स्कूल', 'वेदान्त कॉलेज', आदि कलकत्ते की विविध आरम्भिक शिक्षण-संस्थाओं के जन्म और विकास के कार्य में योग देकर उन्होंने हमें प्रगति का एक नया रास्ता दिखाया। देश की वर्तमान आवश्यकता को ध्यान में रखते हुए उन्होंने पाश्चात्य विज्ञान के अध्ययन के लिए विशेष जोर दिया। और तो और, आधुनिक ढंग की उचित पाठ्य-पुस्तकों का अपने यहाँ अभाव देखकर, उन्होंने स्कूलों में पढ़ाने के लिए अपनी मातृभाषा बँगला में भूगोल, ज्यामिति, खगोल विज्ञान और व्याकरण पर अनेक छोटी-छोटी सरल पोथियाँ तक लिखीं! ऐसा था उनका शिक्षा-सबधी अदम्य उत्साह!

उनके हाथों हमारे साहित्य को जो बल मिला, उसका अनुमान तो उनकी लेखनी के प्रसाद के रूप में हमारी राष्ट्रीय निधि में संचित बँगला, उर्दू, फारसी, अरबी, संस्कृत और अंग्रेजी में लिखित उनकी उन विविध कृतियों ही से लगाया जा सकता है, जिनमें उनके जीवन-कार्य का वास्तविक लेखा अंकित है। उन्होंने ही १८१९ ई० में 'सवाद-कौमुदी' के नाम से भारतीय तत्वावधान में निकलनेवाले सर्वप्रथम बँगला साप्ताहिक पत्र को जन्म दिया। इसके तीन वर्ष बाद फारसी भाषा में भी 'मिरातुल अखबार' नामक अपने एक पत्र का प्रकाशन उन्होंने आरम्भ किया। इस प्रकार धार्मिक और सामाजिक सुधार तथा शिक्षा-प्रसार की भाँति, पत्रकला के क्षेत्र में भी

वही हमारे सर्वप्रथम अग्रदूत थे। कहते हैं, जब १८२३ ई० में भारतीय समाचारपत्रों पर प्रतिबंध लगानेवाला एक काला कानून जारी हुआ था, और उसके अंतर्गत 'कलकत्ता जर्नल' नामक अंग्रेजी पत्र के संपादकों का दमन किया गया था, तो राममोहन ने विचार-स्वातंत्र्य का नारा बुलन्द करते हुए तत्कालीन सुप्रीम कोर्ट और सम्राट की कौंसिल तक अपने विरोध का मेमोरंडम भेजा था! इससे अनुमान किया जा सकता है कि वह किस कोर्ट के सार्वजनिक कार्यकर्ता और नेता थे!

राजनीतिक विचार

धर्म और समाज की भाँति राजनीति के क्षेत्र में भी यह महान् राष्ट्रनायक एक ऊँचे मानदण्ड पर स्थित था। उसकी विषय राजनीति केवल एक ही जाति-विशेष के हित-अहित के सकीर्ण घिरीदे में बंद राजनीति न थी। वह तो एक प्रकार के अंतर्राष्ट्रीय आदर्श से ओत-प्रोत थी, जिसमें सप्ताह भर के पीड़ित और शोषित जनो के प्रति समवेदना और सौहार्द की एक सच्ची भावना निहित थी। उसके निकट ससर्ग में आनेवाले पादरी आदम ने लिखा है कि 'स्वतंत्रता की लगन उसकी अंतरात्मा की सबसे जोरदार लगन थी।' यह स्वातंत्र्य-भावना उसके धार्मिक, सामाजिक, राजनीतिक, सभी कार्यों में फूट-फूटकर टपकी पड़ती थी।

उसके अंतराल में धधकती हुई स्वतंत्रता की इस आग का हाल यह था कि जब उसने सुदूर स्पेन की जनता द्वारा स्वायत्त शासन की प्राप्ति का समाचार पाया था, तो उसकी खुशी में ही कलकत्ते के टाउनहॉल में एक शानदार सार्वजनिक प्रीति-भोज उसने दिया था। इसी प्रकार जब ऑस्ट्रियन सैनिक सत्ता द्वारा नेपल्स नगर के निवासियों के अधिकारों के कुचले जाने की खबर उसे सुनने को मिली थी, तो विक्षुब्ध होकर अपने एक पत्र में निम्न शब्दों में मानो निराशा और रोष के मारे वह चीख-सा उठा था—'इस हृदयविदारक समाचार को पाकर मैं विवश हो इस नतीजे पर पहुँच रहा हूँ कि सम्भवतः मुझे अब अपने जीवन में वह दिन देखने को न मिलेगा, जब योरोप और एशिया के समग्र कुचले हुए राष्ट्रों को, विशेषकर उन राष्ट्रों को जो योरोपवालों के अधीन उपनिवेश बने हुए हैं, फिर से अपनी खोई हुई स्वतंत्रता प्राप्त हो

सकेगी ! परिस्थिति को देखते हुए उन पीड़ित नेपल्सवासियों के हित-अहित और सघर्ष को मैं स्वतः अपने ही हित-अहित और सघर्ष-जैसा समझना हूँ और उनके दुश्मनों को अपना दुश्मन मानना हूँ । स्वाधीनता के शत्रु और निरकुशता के हिमायती अतन्त न कभी सफल हुए हैं और न होंगे ।' और तो और, अपने फारसी पत्र 'मिरातुल अखबार' में उसने आयर्लैण्ड तक के कष्ट और असंतोष पर एक लेख प्रकाशित किया था । तो फिर क्या उसके हृदय में स्वयं अपने ही मातृप्रदेश की राजनीतिक अधोगति देखकर एक कसक-सी न उठती रही होगी ?

राष्ट्रदेव का इच्छुक देशभक्त

निश्चय ही वह अपने देश के राजनीतिक अभ्युदय के लिए भी उसी प्रकार चिन्तित और उत्कटित था, जिस प्रकार कि उसके धार्मिक और सामाजिक पुनरुत्थान के लिए । किन्तु इस आकांक्षा की पूर्ति के लिए वह बाद के अन्य अनेक उदार-नीतिधर्मी राष्ट्रनेताओं की भांति नवसंस्थापित विदेशी शासन-तंत्र के साथ भययोग की नीति ब्रतने और उसकी सद्भावनाओं पर विश्वास रखने का विशेष रूप से हिमायती था । इसका कारण यह था कि उसका विश्वास था कि इस राजतंत्र की छत्रछाया में इस देश का अभ्युत्थान कहीं अधिक तीव्रतर गति से हो सकेगा ।

परन्तु इसमें यह नहीं समझ लेना चाहिए कि उसमें यह भावना उचित माहस अथवा देशभक्ति की कमी के कारण थी । वस्तुतः वह किस हद तक आगे बढ़ने को तैयार था, इसका कुछ-कुछ आभास हमें स्व० रामानन्द चटर्जी द्वारा लिखित 'राममोहन-राय और आधुनिक भारत' नामक पुस्तक में उल्लिखित इस राष्ट्रनेता की उस खुली प्रतिज्ञा में मिल जाता है, जो उसने तत्कालीन प्रस्तावित 'ग्रिफार्म बिल' (शासन-सुधार-सम्बन्धी विधान) के सिलसिले में की थी । कहते हैं, उसने यह स्पष्ट घोषित कर दिया था कि 'यदि यह विधान न बन पाया, तो मैं इंग्लैण्ड के साथ सदा के लिए अपना सबंध तोड़ दूँगा ।' ऐसी थी उस सच्चे देशभक्त की साहसपूर्ण राजनीति और ऐसा उत्कट था समस्त ससार के प्रति समवेदना का भाव रखनेवाले उस महान् विश्व-धर्मी का मातृभूमि के प्रति प्रेम । फिर उसकी राष्ट्रभक्ति में किसे संदेह हो सकता है !

विलायत-यात्रा और राष्ट्रीयप्रचार-कार्य

यह एक उल्लेखनीय बात है कि पूर्व और पश्चिम को एक-दूसरे के समीप लाने में विशिष्ट योग देनेवाले इस महापुरुष ही के पहले यह कार्य भी पड़ा कि वही इस युग में सबसे पहले इस देश से पश्चिम की दुनिया में जाकर यहाँ का भ्रातृत्व का संदेश मुनाएँ और आगे आनेवाली पीढ़ियों के लिए उस नई दुनिया से परिचय पाने के मार्ग का उद्घाटन करे । राममोहन ही सर्वप्रथम उच्च वर्ण के भारतीय थे, जिन्होंने आधुनिक युग में समुद्र-यात्रा के सामाजिक निषेध का उल्लंघन कर पहले-पहल पाश्चात्य जगत् की ओर कदम बढ़ाया था । वह विलायत की यात्रा करने के लिए तो बहुत दिनों में उत्सुक थे, परन्तु इसके लिए अब तक कोई उपयुक्त अवसर उन्हें नहीं मिला था । तब १८३० ई० के अन्तिम दिनों में दिल्ली के तत्कालीन नाममात्र के बादशाह, अकबर द्वितीय, द्वारा मौपे गए एक राजकीय कार्य के रूप में अनायास वह मौका हाथ लग गया ।

बात यह थी कि ईस्ट इण्डिया कंपनी के रवैये के प्रति अपनी कुछ शिकायतों को दिल्ली का यह कठ-पुतली मुगल सम्राट् इंग्लैण्ड के बादशाह के आगे पेश करना चाहता था और इस काम के लिए उसे भला राममोहनराय से अधिक योग्य व्यक्ति दूसरा कौन मिल सकता था ? अतएव उसने उन्हें 'राजा' की पदवी देकर विधिपूर्वक अपने राजदूत के रूप में इंग्लैण्ड के लिए रवाना किया । वर १५ नवम्बर, सन् १८३० ई०, के दिन अपने दत्तक पुत्र राजाराम-राय और दो अनुचरों के साथ जहाज द्वारा अपनी इस लम्बी यात्रा पर रवाना हुए और अनेक कठिनाइयों का सामना करते हुए लगभग डेढ़ वर्ष बाद इंग्लैण्ड पहुँच लिवरपुल के बन्दरगाह पर उतरे ।

कहने को आवश्यकता नहीं कि उनके आगमन से वहाँ के समाज में एक अभूतपूर्व खलबली-सी मच गई । शीघ्र ही उनके उस प्रभावशाली व्यक्तित्व, प्रकाण्ड पाण्डित्य एवं उच्च दार्शनिक विचारों की ऐसी धाक जमी कि बैरेमी बैन्थम जैसे समसामयिक ब्रिटिश विद्वान् तक उनसे भेंट करने में गौरव का अनुभव करने लगे ! जहाँ-जहाँ भी वह गए, उन्हें सम्मान ही प्राप्त हुआ । इस बीच जिस कार्य के लिए मुगल सम्राट् ने उन्हें भेजा था, उसको निवटाने के अतिरिक्त स्थान-स्थान में व्याख्यानों,

प्रवचनों आदि द्वारा भारत के हितसाधन के लिए जो कुछ भी वहाँ किया जा सकता था, उसे करने में उन्होंने कोई कसर न उठा रखी। उन्होंने सती-दाह-निषेधक कानून के विरुद्ध अपने देश के कट्टरपंथी समाज द्वारा पेश की गई अपील को रद्द करवाया। ईस्ट इंडिया कम्पनी के चार्टर की पुनरावृत्ति के मिलमिले में नियुक्त शाही जाँच-कमिटी के सामने गवाही देकर, तत्कालीन रेवेन्यू और जुडीशियल व्यवस्थाओं पर अपने स्पष्ट विचार प्रकट करते हुए, देश की जनता की यथार्थ स्थिति और आवश्यकताओं पर भरपूर प्रकाश डाला। पार्लियामेंट में भारतीय शासन-सुधार के सम्बन्ध में पेश प्रस्तावित 'रिफार्म-बिल' को पास कराने में भी समुचित योग दिया। साथ ही भारत के सत्र में पश्चिम में फैली हुई गलत धारणाओं को दूर करने हुए, वहाँ के सामयिक पत्रों में लेख लिखकर हर प्रकार से अपने देश की प्रतिष्ठा बढ़ाने का भी प्रयास किया।

देहावसान

इन्हीं दिनों उन्होंने फ्रान्स की राजधानी पेरिस का भी एक चक्कर लगाया, जहाँ जनता और शासक दोनों ने उन्हें समुचित आदर प्रदान किया। किन्तु जलवायु की प्रतिकूलता, अत्यधिक श्रम तथा आर्थिक कठिनाइयों के कारण उनका यह विलायत का प्रवासकाल दुर्भाग्य में बहुत थाड़ी ही अवधि का रहा। वह मरुत बीमार पड़ गए और उस मुद्गर विदेश ही में २७ सितम्बर, सन् १८३३ ई०, के दिन ब्रिस्टल नगर के समीप स्टेपल्टन ग्रुव नामक स्थान में ६२ वर्ष की आयु में कराल काल ने सदा के लिए उन्हें इस लोक में उठा लिया। वही मातृ-भूमि से हजारों मील दूर उनके पार्थिव शरीर की सम्मानपूर्वक अंत्येष्टि-क्रिया की गई। तदनन्तर उसी समाधिस्थल पर वाद में उनके भक्तों द्वारा वह छोटा-सा सुन्दर स्मारक निर्मित कर दिया गया, जो आज के दिन विलायत जाननेवाले भारतवासियों के लिए एक तीर्थस्थल-सा बन गया है।*

इस प्रकार एक महान् जीवन का अंत हुआ, किन्तु उसके जादूभरे प्रभाव से साथ ही साथ आरम्भ हुआ हमारे देश की आत्मकथा का एक ऐसा

* पिछले दिनों यह प्रस्तावित किया गया है कि इस महान् राष्ट्र-निर्माता की अस्थियों को हटाकर स्वदेश ले आया जाय और यहाँ उसका एक भव्य स्मारक निर्मित किया जाय।

नूतन और गौरवशाली अध्याय भी, जिसने इस दुर्दिन में हमारी आशा के पीछे को एकदम झुलसकर मुग्धा जाने से बचा लिया !

आधुनिक भारत के उद्गाता

सौ वर्ष बाद उनकी स्मृति में आयोजित एक सार्वजनिक सभा-मंच में श्रद्धांजलि अर्पित करते हुए स्व० कवीन्द्र रवीन्द्रनाथ ने कहा था—“राममोहनराय ही को भारतवर्ष के आधुनिक युग का उद्घाटन करने का अद्वितीय सम्मान प्राप्त है। उनका जन्म एक ऐसे समय में हुआ था, जब हमारा देश अपने प्राणतत्त्व का संपर्क खोकर केवल परिस्थिति की गुलामी करता हुआ अज्ञान के भारी बोझ के नीचे दबकर छटपटा रहा था। उन दिनों क्या सामाजिक रीति-रिवाजों में, क्या राजनीति में, और क्या धर्म और कला के क्षेत्र में हम एक ऐसी उतार की मजिल पर आ पहुँचे थे, जहाँ एक जर्जरी-भूत परंपरा के वशीभूत होकर हम अपनी सारी सर्जनात्मक प्रवृत्ति गँवा मानव-धर्म से किनारा कसने लगे थे। पतन के उस अधकारपूर्ण घटाटोप में ऋषियों की-सी पुनीत दिव्य दृष्टि और दुर्द्धर्ष आत्मतेज से युक्त एक ऐसे ज्वाज्वल्यमान नक्षत्र के रूप में इस देश के ऐतिहासिक गगन में राममोहन का उदय हुआ, जिसकी आभा से यह भूमि फिर से प्रदीप्त हो उठी। इस महापुरुष ने हमें अपने निजी अज्ञानान्धकार में लीन हो जाने की दुर्दशा से बचा लिया और अपने व्यक्तित्व के विद्युत्प्रभाव तथा आत्मा के निर्द्वन्द्व स्वातंत्र्य-प्रकाश से हमारी राष्ट्रीय जीवनधारा को एक नूतन मज्जा की भावना में अनुप्राणित कर फिर से हमें आत्मोपलब्धि के कठोर अनुष्ठान में सन्नद्ध कर दिया। वही इस शताब्दी का हमारा सबसे महान् मार्गशोधक था ! उसने पग-पग पर हमारी उन्नति में बाधा डालने-वाले रोंडों को राह में अलग हटाकर हमें विश्व-सहयोग और मिश्रित मानवता के युग में ला खड़ा कर दिया। वह था इस देश के उन महान् क्रान्तदर्शी ऋषियों की परंपरा का व्यक्ति, जिन्होंने समय-समय पर इतिहास के आंगन में उतरकर हमें शाश्वत मानव का अमर सदेश सुनाया है।

“×××××” तो फिर आज जब कि हमारी पुरानी पड़ गई सामाजिक रूढ़ियाँ एकता की सशक्त पुकार के आगे दिन-प्रति-दिन घटने टेक रही हैं,

जबकि जातिगत भेदभाव की दीवारें हमारी उमड़ती हुई भ्रातृभावनाओं का वेग रोकने में अपने आपको असमर्थ पा रही है, जबकि इस देश के निवासियों के बीच एकता की आवश्यकता का प्रश्न अपने प्रबलतम रूप में उठ खड़ा हुआ है, और फलतः इस भूमि के इस छोर से उस छोर तक एक नूतन चेतना की लहर दौड़ गई है, ऐसे समय में हमें यह न भूल जाना चाहिए कि हमारे पुरुषत्व का यह पुनरोदय ऐक्य के उस महान् विधायक राममोहनराय ही के अदम्य प्रताप से संभव हो पाया है ! उसे ही भारत के अंतराल की सर्वोपरि पुकार को इस प्रकार सशक्त रूप से फिर से प्रतिष्ठापित करने का श्रेय दिया जाना चाहिए—वह पुकार जोकि सबके हृदय में निवास करनेवाले और एक ही कल्याणमूत्र में सबको प्रथिबद्ध करनेवाले परमात्मा की भक्ति-उपासना के क्षेत्र में सभी मनुष्यों की समानता-विषयक इस देश की चिर-अमर भावना में निहित है !”*

बहुमुखी देन

राममोहनराय न केवल भारत ही के प्रत्युत ससार भर के अग्र्यतम महापुरुषों की श्रेणी में प्रतिष्ठित किए जाने योग्य एक अद्वितीय रत्न थे । इतना व्यापक था उनका व्यक्तित्व कि उनके जीवन के किसी एक विशेष पहलू ही को लेकर उनका पूरा परिचय देना अमभव है । वह धर्म, समाज, राजनीति, शिक्षा, साहित्य, पत्रकला, दर्शन और तत्त्वज्ञान—सभी क्षेत्रों में समान रूप में अपना प्रभुत्व प्रस्थापित करने में सफल हुए थे । एक ओर तो कुसस्कारजनित अध-रूढ़ियों के विध्वंसक के रूप में उग्र रूप से समाज के मकड़ी-जालों को झाड़ते-बुढ़ारते वह दिखाई दिए थे । दूसरी ओर साथ ही साथ सभी क्षेत्रों में रचनात्मक कार्यों की एक ऐसी अनमोल वसीयत भी वह अपने पीछे छोड़ते गए थे कि विरला ही कोई एक व्यक्ति इतने विभिन्न प्रकार की देन किसी जाति या राष्ट्र को कभी प्रदान कर गया हो ! वह हर दृष्टि और पहलू से इस देश के आधुनिक युग के पिता थे । उन्होंने

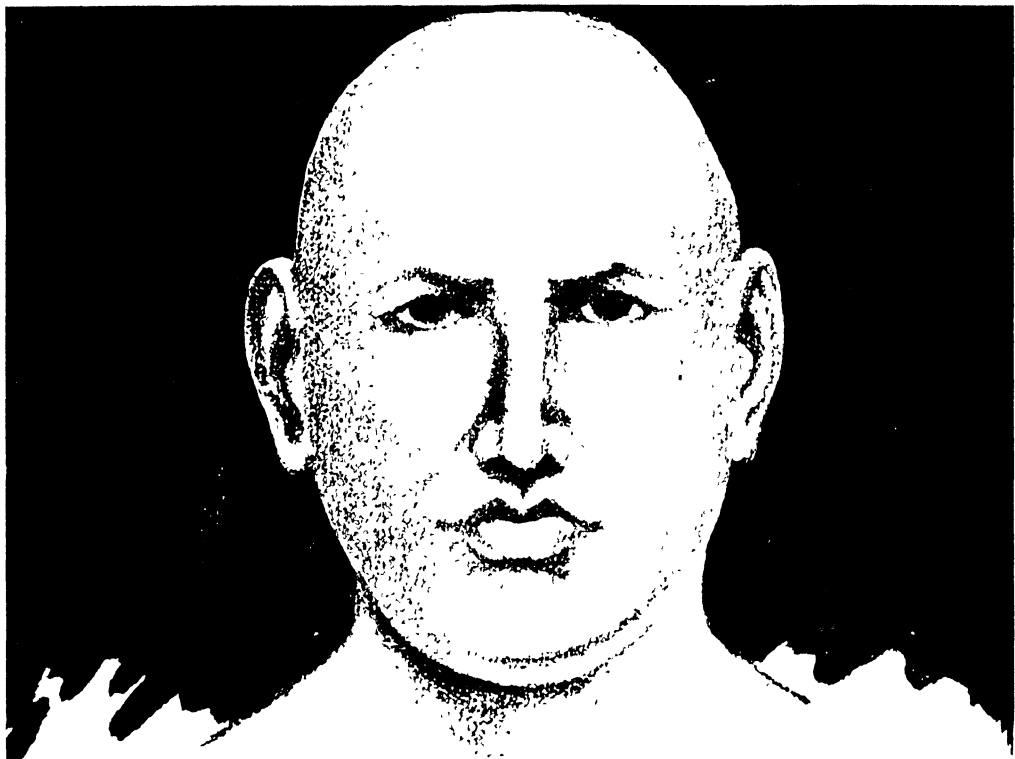
* १८ फरवरी, सन् १८३३ ई०, के दिन राममोहनराय-शताब्दी के अवसर पर आयोजित कलकत्ते की एक सार्वजनिक सभा में सभापति-पद से दिए गए कबोन्द्र रबोन्द्रनाथ के एक भाषण का अंश ।

के हाथों पहले-पहल सुधार और संगठन का मंत्र सीखकर हमने नवयुग का वह विधान पाया, जिसके बल पर हम आज उन्नति की कक्षा में प्रवेश कर सके । उन्होंने ही कृपमण्डकता के दायरे से बाहर कदम बढ़ाने का साहस कर हमें विचार-स्वातंत्र्य के स्वस्थ वातावरण में ला खड़ा किया और अपने हाथों अपना गला घोट लेने की दुर्गति से बचाया ।

महान् विश्व-धर्मों

परन्तु एक महान् समाज-सुधारक, शिक्षा-शास्त्री, पत्रकार, राजनीतिज्ञ तथा साहित्य-महारथी होने के बावजूद यथार्थ में वह थे विमुद्ध धर्म के क्षेत्र के व्यक्ति ही । वह एक सच्चे साधक, उपासक और तत्त्व-चिन्तक थे, जिनका कि व्यक्तित्व अपने पूर्वगामी सत कबीर और बाद के महापुरुष गांधी की भाँति किसी लघु साम्प्रदायिक सीमा में समानेवाला व्यक्तित्व न था । वह तो एक सार्वभौम व्यक्तित्व था । तभी तो, जैसा कि विलायत के लिए रवाना होते समय अपने एक मित्र नन्दकिशोर वसु से उन्होंने स्वयं ही भविष्यद्वाणी करते हुए कहा था, सचमुच ही मृत्यु के बाद हिन्दुओं ने उन्हें एक महान् ‘वेदान्ती हिन्दू’, मुसलमानों ने एक पहुँचा हुआ ‘सूफी मुसलमान’, और ईसाइयों ने एक सच्चा ‘यूनिटेरियन ईसाई’ समझा ।

सच तो यह था कि अपने विशद दृष्टिकोण के कारण यह महापुरुष सभी जाति-धर्मवालों को ऐसा जँचता था कि वह सारे ससार की सम्पत्ति बन गया था । उसका धर्म था एक निखिल विश्व-धर्म, उसकी जाति थी सम्पूर्ण मानव-जाति, और उसका देश था भौगोलिक सीमाओं से मुक्त यह सारी वसुन्धरा । वह था वस्तुतः ‘वसुधैव कुटुम्बकम्’ के आदर्श को सामने रखनेवाला एक महान् विश्व-नागरिक । यदि वह मध्ययुग में पैदा हुआ होता, तो आश्चर्य नहीं कि शकर जैसा एक महान् दार्शनिक अथवा कबीर, नानक, दादू जैसा एक सत होता । तो फिर कैसे हम उसकी महानता को नापे-जोखें ? किस प्रकार उसके प्रति अपने अगाध राष्ट्र-ऋण का अनुमान करें ? हम केवल यही भर कह सकते हैं कि इस देश के लिए अपनी आयु की बलि चढ़ाकर यह महामनीषि मानों सदियों के लिए अपनी जर्जरक्रान्त मातृभूमि की फिर से आयुष्य-वृद्धि कर गया !



“मैं”

सादर प्रणाम करता हूँ उस महागुरु दयानन्द को, जिसकी दिव्य दृष्टि ने भारत की आत्मगाथा

में सत्य और एकता का बीज देखा, जिसकी प्रतिभा ने भारतीय जीवन के विविध अंगों को प्रदीप्त कर दिया, जिसका उद्देश्य इस देश को अविद्या, अकर्मण्यता और प्राचीन ऐतिहासिक तत्त्व-विषयक अज्ञान से मुक्त कर सत्य और पवित्रता के जागृति-लोक में लाना था, उस गुरु को मेरा बारबार प्रणाम है ! ”

ये ज्वलंत शब्द विश्व-कवि रवीन्द्रनाथ की अमर वाणी द्वारा अभिव्यक्त अपने उस महान् युग-पुरुष के प्रति अर्पित नवीन भारत की श्रद्धाञ्जलि के प्रतीक हैं, जो एक पाश्चात्य समीक्षक की दृष्टि में आया था हमारे कारागार की दीवारें तोड़ने, हमारी आत्मा के बंधन छुड़ाने, हमारे समाधि-स्थानों के पापाण हटाकर हमें पुनर्जीवन का दान देने ! ऋषि दयानन्द का आधु-

दयानन्द

निक भारत के निर्माण में कितना गहरा हाथ है, उनके द्वारा प्रस्तुत की गई सर्वतो-मुखी क्रान्ति का स्वरूप कितना

उज्ज्वल है. और अपने इस पुनरुद्धार के लिए हम उनके कितने अधिक ऋणी हैं, इसका विस्तारपूर्वक समुचित विवेचन करने के लिए तो अलग से पूरा एक ग्रंथ चाहिए—वह इस छोटे-से जीवन-चित्र में समा पाने जैसा लघु विषय नहीं है। दयानन्द हैं प्राचीन और अर्वाचीन के बीच के हमारे युग-सेतु के एक महत्व-पूर्ण आधार-स्तंभ। वह हमें अपने भव्य अतीत के महान् आदर्शों के अनुरूप अपने भविष्य को रचने के लिए प्रेरित करनेवाले इस युग के प्रधान आचार्य हैं। उन्होंने ही फिर से हमें वैदिक कर्मयोग का पाठ पढ़ाकर सदियों से विसराए हुए अपने पुरातन धर्म-मार्ग पर लाने का सबसे सबल प्रयास किया। उन्होंने ही उस पाश्चात्य भौतिकवादी आंधी के सकट में सचेत करने में

प्रबलतम योग दिया, जिसने कि हमारी मूल संस्कृति, भाषा, वेशभूषा आदि सभी कुछ पर छापा मारना शुरू किया था और जिसकी लोपट में आकर हम अपनापन खो क्या से क्या होते चले जा रहे थे । इस प्रकार वह न केवल हमारे एक महान् शिक्षक ही थे, प्रत्युत पितृतुल्य संरक्षक भी थे ।

युग-संधि के महापुरुष

उनका हमारे राष्ट्रीय इतिहास में वही स्थान है, जो योग्य के इतिहास में मार्टिन लूथर का है । लूथर ही ने ईसाई जगत् में एक महान् क्रान्ति का सूत्रपात कर योग्य को मध्ययुग की धार्मिक कूप-मण्डूकता और पुरोहिततन्त्र के चंगुल में छुटकारा दिलाया था । दयानन्द ने भी उसी तरह अधःरूढ़ि-वादिता और महत्ता, मठाधोशों एवं पडे-पुजारियों के जजाल में उलझे हुए, भारतीय समाज को एक नया प्रकाश देकर फिर से उसे अपने पैरों पर खड़ा करने का सद्प्रयास किया था । लूथर ने ईसाइयत में पैदा हो जानेवाली कुसंस्कारजनित अधःधारणाओं के विरुद्ध आवाज बुलन्द करने हुए, फिर से बाइबिल की मूल शिक्षा की ओर वापस लोट चलने का आह्वान किया था । दयानन्द ने भी वैसे ही भारतीय धर्म में वाद की धूल-मिल जानेवाली अनेक खटकने-जैसी बातों का विरोध कर वेदों की मौलिक आधारशिला का ही अवलम्ब लेने के लिए हमें उद्बोधित किया था । किन्तु इसका यह अर्थ न था कि अतीत के प्रति अपनी प्रगाढ़ श्रद्धा के आगे उन्हें देश-काल के अनुसार आज की हमारी आवश्यकताओं का ध्यान ही न रहा हो । वस्तुतः हमारे वर्तमान और भविष्य की चिन्ता ही उनकी सर्वोपरि चिन्ता थी । यदि उन्होंने हमें अपने भूत-काल की ओर प्रेरित किया था, तो इसका मूल कारण यही था कि उनके विचार में हमारी उस पुरातन युग की कमाई ही में आज की ओर वाद को आनेवाली समस्याओं की ओरपि संचित थी ।

हमारे रोंगों के सम्बन्ध में उनका यह निदान कहाँ तक ठीक था, यह तो समय ही बता सकेगा । क्योंकि अब भी हम पूरी तरह रोगमुक्त नहीं हो पाए हैं और दिन पर दिन नई समस्याएँ हमारे बानावरण में पैदा होती जा रही हैं । किन्तु हमारे पुनर्जागरण के महायज्ञ में जो महत्त्वपूर्ण भाग उन्होंने लिया और उसके कारण हमारे इतिहास में जो उच्च

आसन सदा के लिए उन्हें प्रदान किया गया, उसकी महत्ता और गौरवगर्भा को कौन अस्वीकार करेगा ? दयानन्द राममोहनराय और गांधी के बीच की युग-सन्धि के एक महान् राष्ट्रनिर्माता हैं । यदि दयानन्द न हुए होते, तो हम बहक-कर कहाँ से कहाँ जा पहुँचते, इसकी कल्पना दुःखद है ।

क्रांतिकारी बालक मूलशंकर

यह एक उल्लेखनीय बात है कि पिछले सौ साल की अल्प अवधि ही में इस पुण्यभूमि के एक ही प्रान्त ने दो ऐसी अन्यतम विभूतियों की भेंट हमें दी, जिनके नाम मानव-जाति का हृदयमयन करनेवाले असाधारण मनीषियों की तालिका में युग-युग तक अमर रहेंगे । विश्वव्यापी गांधी की तो जन्मभूमि गुजरात या सोराष्ट्र प्रख्यात है ही, किन्तु बहुत कम लोग यह जानते होंगे कि महर्षि दयानन्द भी उसी ऋषिप्रसविनी गुर्जरभूमि के एक छोटे-से गाँव की उपज थे । दयानन्द का वचन का नाम था मूलशंकर और उनका जन्म सन् १८८१ वि० (अर्थात् १८२४ ई०) में काठियावाड़ (सोराष्ट्र) के मोरवी राज्य के टकारा नामक गाँव में एक उच्च कोटि के ब्राह्मण-परिवार में हुआ था । उनके पिता अवाशकर एक कट्टर वेदपाठी, सामवेदी उदीच्य ब्राह्मण और मोरवी राज्य के एक सम्माननीय पदाधिकारी थे । स्वयं दयानन्द ही का कथन था कि उनकी अपनी शिक्षा पाँच वर्ष की आयु ही में आरंभ हो चुकी थी । आठवें वर्ष में प्रवेश करने ही उपनयन-संस्कार के बाद तो विधिवत् वेदाध्ययन में वह मग्न हो गए थे ।

जब मूलशंकर चौदह वर्ष के हुए, तो उनके जीवन में एक ऐसी घटना घटी, जिसने उन्हें सदैव के लिए एक दिशा विशेष की ओर मोड़कर धर्म और समाज के क्षेत्र में प्रचलित अधःभावनाओं का कट्टर विरोधी और एक सच्चा सत्यान्वेषक बना दिया । बात यह हुई कि प्रति वर्ष की भाँति जब उस साल भी महाशिवरात्रि का महान् पर्व-दिवस आया, तो पिता अवाशकर ने, जो एक कट्टर शिवभक्त और पक्के रूढ़िवादी ब्राह्मण थे, अपने पुत्र को भी व्रत रखकर सारी रात जागरण में बिताने तथा उपवास करने के लिए विवश किया । वह उसे अपने साथ लेकर पूजा-पाठ के निमित्त अन्य उपासकों सहित

गाँव के बाहर एक शिवालय में जा डटे। परन्तु आधी रात के लगभग उस मण्डली के सभी लोग तो क्रमशः नींद के झोको के आगे लड़खड़ाकर एक के बाद एक लोट-पोट हो गए—केवल जागता रहा अपने सकलप का धनी, सच्चा धर्मव्रती वह चौदह-वर्षीय किशोर मूलशकर ही, जो आँख में आँख मिलाए एकटक शिव-प्रतिमा को निहारता रहा।

वह मन ही मन उस महेश्वर की आराधना के मंत्र जप रहा था। मंदिर के चारों ओर अंधकार और सन्नाटा छाया हुआ था। केवल उस मूर्ति के समीप एक घोंघी का दीपक टिमटिमाते हुए थोड़ा-बहुत उजाला किए हुए था। इतने में कुछ ही समय बाद यह व्रती बालक देखता क्या है कि एक छोटी-सी चूड़िया नेत्रैक की तलाश में आकर उस शिव-मूर्ति पर उछल-कूद मचा रही है। अचरज की बात तो यह थी कि जिनके भ्रूविशेष के चिह्न निकल सकते मात्र में तीनों लाका का विनाश हो सकता है, वह महारुद्र उस क्षत्र जीव की डम डिठार पर चूँ भी नहीं करते थे। ना फिर क्या यह प्रतिमा केवल एक क्विलोना ही थी? बालक मूलशकर के मन में इस शका के साथ ही विचारों का एक तूफान-सा उठ खड़ा हुआ। उसमें चुप न रहा गया और तत्काल ही पिता को जगाकर अपने सगय का समाधान करने के लिए उनसे पचीसों उमने प्रश्न पूछ डाले। परन्तु पिता के टकमाली उत्तर उसे सतुष्ट न कर पाए। निदान उसी समय वह उस देवालय से उठकर अपने घर पर चला आया और शिवरात्रि का अपना वह व्रत उसने तोड़ डाला। उसके मन में मूर्ति-पूजा की निस्सारता और पुराणों में वर्णित देवी-देवताओं की कथा-कहानियों के प्रति घोर अश्रद्धा का बीज अकुरित हो गया और वह मशयाकुर अधिकाधिक बल ही पाता गया, वह फिर मुरझा नहीं पाया।

जीवन का नया मोड़

पिता ने डॉट-फटकारकर उसे राह पर लाने का भरसक प्रयास किया, किन्तु इसका उस पर कोई अनुकूल प्रभाव पड़ते न दिखाई दिया। उल्टे अब वह उनकी ओर से और भी अधिक विचा-विचा-सा हो रहने लगा। उसका एकमात्र विश्वास-भाजन और पृष्ठपोषक यदि कोई था तो वह उसके एक चाचा थे, जो काफी उदार वृत्ति के व्यक्ति थे।

परन्तु दुर्भाग्य से कुछ ही वर्ष बाद महामारी के प्रकोप से उनका असमय ही देहान्त हो गया। इस घटना का मूलशकर के भावुक हृदय पर बहुत ही गहरा प्रभाव पड़ा। इसके दो वर्ष पूर्व अपनी एक प्यारी बहन को भी इसी तरह कालकवलित होते देखकर इस नवयुवक का मन दुःखमूलक ससार की ओर से एकदम उदासीन हो गया था। तब से वह वास्तविक सुख के किसी मुद्द आधार की निरंतर खोज करता हुआ इस जग-मृत्युश्रस्त समृति के वन्धनों से छूटकारा पाने की आप्ति जानने के लिए बिकल हो रहा था। उसकी इस असामयिक विवर्तित से प्रवृत्ति अन्त में उसके माता-पिता ने वही एक उपाय सोचा, जो ऐसी स्थिति में आम तौर में प्रयोग में लाया जाता है। उन्होंने तुरन्त ही उसका विवाह कर देने का निश्चय किया, ताकि गृहस्थी के माहजाल में फँसकर वह इस वैराग्य के भाव को निवारण दे दे।

गृहत्याग और गुरु की खोज

परन्तु जो व्यक्ति आग में जले की दवा खोजने जा रहा था, वह भला स्वयं आग में क्यों कूदने लगा। मूलशकर ने विवाह की वेड्डियों को सामने आते देखकर अपने भरमक टालमटोल की नीति से काम लेने का प्रयत्न किया। उसने वर्ष भर के लिए विवाह को और स्थगित रखने की अवधि पिता से माँगी। तदनंतर जब वह अवधि भी समाप्त हो गई तो विशेष शिक्षा के लिए काशी जाने की चाह उसने प्रकट की। पिता ने उसे काशी तो नहीं जाने दिया, पर पड़ोस ही के एक गाँव के एक नामांकित पण्डित के पास उसे पढाई के लिए भेजने को वह राजी हो गए। परन्तु जब उस शिक्षक से भी उन्हें यही सूचना मिली कि यह युवक किसी भी दशा में अपना विवाह करने को राजी नहीं है, बल्कि शीघ्र ही किसी युक्ति से घर से निकल भागने ही के फेर में है, तब तो शीघ्रता करने ही में उन्होंने अपनी भलाई समझी। तुरन्त ही व्याह के वाजे-गाजे बजने लगे। लेकिन यह दृढसकल्पी युवक भी अपने निश्चय पर मानो तुला बैठा था। वह लग्न-तिथि के एक सप्ताह पूर्व ही चुपके से एक दिन घर से भाग निकला। उसने गेरुआ धारण कर लिया और साधुवेष्ट में उपयुक्त गुरु की तलाश में यहाँ से वहाँ भटकना शुरू किया। कहते हैं, पिता ने टोह

पाकर सिद्धपुर नामक स्थान में फिर से उसे जा पकड़ा और एक कोठरी में बन्द करके उस पर कड़ा पहरा उन्होने बिठा दिया। पर न जाने किस तरह यह विद्रोही पहरेदारों को चकमा देकर उसी रात को फिर से अपनी राह पर चलता बना। अन्त में नर्मदा-तट पर चाणोद-कल्याणी नामक स्थान में परमहंस परमानन्द के आश्रम में पहुँचकर कई दिनों तक वह वेदात का अध्ययन करता रहा। अन्त में वही दडी स्वामी पूर्णानन्द के हाथों विधिवत् सन्यास ग्रहण कर वह सदा के लिए ससार-जाल से मुक्त हो गया !

देश-भ्रमण और विरजानन्द से भेंट

इस प्रकार चौबीस वर्ष की आयु ही में ब्रह्मचारी मूलशंकर ग्रहस्थ-जीवन की आश्रम-धर्म की बीच की सीढ़ी लाँघकर सन्यासी दयानन्द के रूप में परिणत हो गया ! इसके बाद तो किस प्रकार बरसों अपने परम ध्येय की खोज में यहाँ से वहाँ भटकते हुए वह नर्मदा से ठेंग गया और विन्ध्यमेखला से हिमालय तक इस देश की खाक छानता रहा, वह है इतिहास की यवनिका की ओट में छिपी हुई एक अज्ञात कहानी ! कहते हैं, इस बीच उसने कुछ समय तक योगानन्द, ज्वालानन्द और शिवानन्द पुरी नामक योगविद्या के आचार्यों से दुश्चर योग सीखा। तदनंतर कृष्णशास्त्री नामक एक पंडित से व्याकरण और दर्शन के गहन तत्त्वों का अध्ययन किया। फिर कुछ दिनों तक अरावली की पर्वतश्रेणी में आबू के गिरि-शिखर पर ही उसने आसन जा जमाया। इसके अनंतर काफी समय तक हिमालय की दुर्गम चट्टानों से लोहा लेते हुए वह कठोर तप भी करता रहा। किन्तु इस पर भी जब उसे उपयुक्त प्रकाश न मिला, तो निराश हो वह पुनः मैदानों में उतर आया। तभी हरद्वार, कानपुर, प्रयाग आदि स्थानों का चक्कर काटता हुआ पंडितों के पुरातन गढ़ काशी में वह पहुँचा। पर वहाँ भी कोई उसकी उत्कट जिज्ञासा और मुक्ति की प्यास न बुझा सका।

सच तो यह था कि अब तक उसे अपने मन के उप-युक्त कोई गुरु ही न मिला था। उसके जैसे असा-मान्य सत्यशोधक के लिए तो उसी जैसे असाधारण पथ-प्रदर्शक की आवश्यकता थी ! आखिरकार धूमते-भटकते वह काशी से मथुरा आया और वहाँ एक ककालवत् वृद्ध अध सन्यासी के चरणों में उसने अपने आपको डाल दिया। अपनी अब तक की

सारी छानबीन के बाद उसे केवल यही एक व्यक्ति ऐसा मिला था, जो सचमुच ही उसे राह बता सकता था। इस प्रज्ञाचक्षु दण्डी सन्यासी विरजा-नन्द सरस्वती के रूप में उसे यथार्थतः अपने अनु-रूप गुरु और पथ-प्रदर्शक मिल गया। उसकी ही उँगली पकड़कर अंत में वह उस कल्याण-मार्ग का सफल पथिक बन सका, जिसके लिए घर-द्वार, स्वजन, आदि को ठुकराकर चुपके से उस दिन वह एकाकी घर से भाग निकला था !

गुरु-शिष्य की अनोखी जोड़ी

यह डेढ़ पसलियों का विकट साधु विरजानन्द अपने युग का एक अत्यन्त विलक्षण और असा-धारण महापुरुष था। उसका अपना जीवन भी दयानन्द की अब तक की जीवनलीला से किसी अंश में कम रोमाचक न था ! वह अपने बचपन ही में मा-बाप के साथ-साथ आँखों की ज्योति भी खोकर एक निस्सहाय अनाथ हो गया था। परन्तु उस असाहाय्यवस्था में भी उसने अपनी दुर्द्धर्ष सकल्प-शक्ति, असामान्य बुद्धि और अदम्य साहस के बल पर, क्रमशः संस्कृत-व्याकरण जैसे दुरूह विषय पर प्रभुत्व प्राप्त कर, वेदों के विषय में एक नवीन पाण्डित्यपूर्ण दृष्टिकोण प्रस्थापित किया था ! वह वेदों की मौलिक शिक्षा ही को महत्त्व देता और मानता था, उनकी बाद की विविध संप्रदायमूलक व्याख्याओं को नहीं। इसी तरह पुराणों का वह घोर विरोधी था और उनके द्वारा पोषित बहुदेवो-पासना, मूर्तिपूजा आदि बातों को खुलकर वह वेद-विरुद्ध एवं अधार्मिक घोषित करता था। वह देश की वर्तमान धार्मिक पतनावस्था पर आंसू बहाया करता। वस्तुतः एक ऐसे साहसी शिष्य की खोज में वह था, जो उसका सदेश सुनाकर दिन पर दिन बढ़ते जा रहे पाखण्ड का डेरा-तबू उखाड़ फेंके और फिर से इस पुण्यभूमि में वेदों की पताका फहरा दे !

अतः जब विधाता ने अनायास ही युवक दयानन्द के रूप में वह मनचाहा शिष्य उसके हाथों में ला सौपा, तो वृद्धावस्था के कारण जर्जर हो जाने पर भी इस अधे साधु ने जी-जान से अपने विशेष दृष्टिकोण के अनुसार संस्कृत व्याकरण से लेकर वेदों तक की महती शिक्षा उसे देना शुरू किया ! किन्तु वह था एक अत्यन्त कठोर शासक और महाक्रोधो भी शिक्षक ! कहते हैं, कभी-कभी वह

साधारण-सी बात पर शिष्य को डडे से मार तक बैठता था ! पर दयानन्द गुरुकुल के प्राचीन आदर्श के अनुसार सब-कुछ सहन करते हुए तन-मन से गुरु की सेवा करते रहे और शिक्षाकाल की समाप्ति पर और कुछ न पा गुरुदक्षिणा के रूप में केवल आधा सेर लौह ही लेकर विरजानन्द से अन्तिम विदा माँगने पहुँचे ! उस समय का दृश्य एक अत्यन्त कारुणिक साथ ही अति महान् दृश्य था । गुरु अपने इस महाभेधावी शिष्य को इतने सस्ते दामों ही छूट जाने देने को तैयार नहीं थे । अतएव अपनी वास्तविक गुरुदक्षिणा के रूप में इस कठोर प्रतिज्ञा का बोझ उन्होंने दयानन्द पर लाद दिया कि वह इस देश में पुनः विशुद्ध वैदिक धर्म की प्रतिष्ठा कर कि-कत्तंव्यविमूढ आर्य जाति को अपने पैरों पर खड़ा करने तथा ससार में वैदिक ज्ञान-निधि का प्रचार करने के हेतु ही अपना जीवन उत्सर्ग कर दे ।

कहने की आवश्यकता नहीं कि योग्य शिष्य ने इस कठिन गुरुदक्षिणा को चुकाने में कहाँ तक अपना वचन निभाया । उन्होंने गुरु से विदा लेने के कुछ ही वर्ष बाद सन् १८६७ ई० में हरद्वार के महाकुम्भ के अवसर पर अपनी प्रख्यात 'पाण्डुखडिनी पताका' फहराकर, जिस दिन कुसस्कारग्रस्त आर्य जाति को पहले-पहल पुनरुत्थान का अपना मन्त्र सुनाया था, उस दिन से मृत्युपर्यन्त उनके जीवन का एक-एक क्षण उसी महाप्रतिज्ञा की पूर्ति के प्रयास में ही बीता । अपने इस महासंकल्प को पूरा करने के लिए, कितनी लड़ाइयाँ उन्होंने न लड़ी और क्या-क्या आपत्तियाँ न उठाईं ? और तो और, इसी अनुष्ठान की वेदी पर अन्त में उन्होंने अपने प्राणों तक की आहुति चढ़ा दी ! निश्चय ही आधुनिक युग में जातीय उद्धार के लिए जीवन उत्सर्ग कर देने का सबसे उज्ज्वल पाठ पहले-पहल यदि हमें किसी ने पढ़ाया तो इस वीतराग सन्यासी महान् राष्ट्रधर्मी ऋषि दयानन्द ने ही !

आर्य धर्म का प्रतिपादन और देशभ्रमण

स्वामीजी ने अन्य सभी मत-मतान्तरों का खण्डन कर केवल वेदों की भित्ति पर प्रस्थापित प्राचीन आर्य धर्म का ही प्रतिपादन किया और इस उद्देश्य से आचार्य शंकर की भाँति देश के अधिकांश भाग का भ्रमण कर उन्होंने स्थान-स्थान में विरोधियों को शास्त्रार्थ के लिए ललकारा । यहाँ

इतनी जगह नहीं कि हम उनकी उस विशद दिग्विजय-यात्रा का सुविस्तृत वर्णन दे सकें । केवल यही भर कह देना पर्याप्त होगा कि पण्डितों के प्रधान पीठस्थान काशी से लेकर आधुनिक भारत की कलकत्ता और बम्बई जैसी महानगरियों तक जहाँ-जहाँ भी वह पहुँचे, वहाँ उन्होंने अपनी निर्भीक आवाज से शत्रुओं का दिल दहला दिया और जनता में एक नई जागृति पैदा कर दी । उनकी वेदों की व्याख्या अपने ढंग की सबसे निराली होती थी । अपने संस्कृत-विषयक अगाध ज्ञान और व्याकरण के गूढ मर्म की सूक्ष्म जानकारी के बल पर वह वैदिक मन्त्रों का ऐसा अनुठा अर्थ प्रस्तुत कर देते थे कि प्रतिस्पर्द्धियों को हतप्रभ और श्रोताओं को चकित रह जाना पड़ता था ! वह पहले तो विशुद्ध संस्कृत ही में बोलने और लिखने-पढ़ने के अभ्यस्त थे । किन्तु बुद्ध की भाँति जब शीघ्र ही वह यह अनुभव करने लगे कि जनसाधारण के हृदय तक पहुँचने का एकमात्र साधन जनबोली ही हो सकती है, पण्डितों की भाषा नहीं, तब से जन्म के गुजराती होने हुए भी उन्होंने उत्तरी भारत की प्रधान बोली हिन्दी को ही अपनाकर उसी में धाराप्रवाह रूप से भाषण देना, वादविवाद करना और अपनी अनेक कृतियाँ लिखना आरम्भ किया । इस तरह उनका नाम इस देश के धार्मिक क्षेत्र में घर-घर की वस्तु बन गया ।

एक नवीन सामाजिक क्रान्ति का सूत्रपात

किन्तु जहाँ इस देश की पीड़ित त्रस्त मानवता ने उन्हें अपना एक नवीन वाता और उद्धारक मानकर स्थान-स्थान में उनके लिए पलक-पाँवड़े बिछाए और साधारण जनो से लेकर अनेक बड़े-बड़े राजा-महाराजा तक उन्हें गुरुभाव से पूजने लगे, वहाँ कुछ स्वार्थान्ध अविद्याग्रसित दुष्ट जनो ने उन्हें अपनी आँखों का खटकनेवाला काँटा समझकर नीचतापूर्वक उन पर पत्थर भी बरसाए और विष देकर अथवा अन्य साधनों द्वारा उन्हें मार डालने तक का प्रयास किया ! पर उस महान् सन्यासी ने उनके प्रति सदैव क्षमा-भाव ही रक्खा । इसी प्रकार प्रतिस्पर्द्धियों ने शास्त्रार्थों और विवादों में कई बार उसके हाथों मात खा चुकने पर भी प्रायः हार स्वीकार न की और उल्टे उसी पर कीचड़ उछाला, फिर भी यह महापुरुष अपने सत्पथ से विचलित नहीं किया जा सका ! उसने पण्डितों के गढ़ काशी

में ही हजारों दर्शकों की उपस्थिति में, सुप्रसिद्ध स्वामी विशुद्धानन्द के नेतृत्व में शास्त्रार्थ करने के लिए आगे आनेवाले लगभग तीन सौ उद्भट पंडितों से अकेले ही हाथ लोहा लेकर, अपने पूर्व-गामी राजा राममोहनराय की भाँति निर्भीक स्वर में मूर्ति-पूजा, बहुदेवोपासना, आदि को मूल भारतीय धर्म के विरुद्ध घोषित करते हुए समाज में प्रचलित अधःप्रथाओं पर एक सच्चे सस्कारक की तरह जोरों से प्रहार किया। इसी तरह जातिगत ऊँच-नीच सवधी भावनाओं की जड़ उखाड़ने के सत्कार्य से लेकर शिक्षा-प्रसार, बालविवाह-निषेध, स्त्रियों के पुनरुद्धार आदि विविध राष्ट्रहितमूलक सुधारों की ओर भी खुलकर उसने अपना हाथ बढ़ाया। वस्तुतः भारतीय समाज को एक ही सूत्र में सगठित करने के महान् अनुष्ठान के उद्गाता इस प्रखर सन्यासी का दग ऐसा निर्भीक था कि विरोधियों के लाख हाथ-पैर पटकने पर भी उसका दुर्दुर्घर्ष तेज किसी के दबाए न दबाया जा सका। उसने इस देश के धर्म-आँगन में एक व्यापक क्रान्ति का सूत्रपात कर दिया, जिसने कालान्तर में हमारे जीवन के अन्य अंगों को भी हिलाने में परोक्ष अथवा अपरोक्ष भाव से अमूल्य सहायता दी। निश्चय ही राममोहनराय, दयानन्द, रामकृष्ण परमहंस, देवेन्द्रनाथ ठाकुर, केशवचन्द्र सेन, विवेकानन्द और रामतीर्थ जैसे धर्मनेताओं द्वारा प्रज्वलित चिन-गारियों ही ने आगे चलकर उस सर्वतोमुखी प्रखर क्रान्ति की लपट को जन्म दिया, जिसने आधुनिक भारत के कलेवर में फिर से एक विद्युत्चेतना का संचार कर दिया !

दयानन्दकृत वेद-भाष्य

राममोहनराय की तरह ऋषि दयानन्द ने भी सार्वजनिक क्षेत्र में आते ही अपने देश की प्राचीन ज्ञान-निधि की ओर जनसाधारण का ध्यान खींचने और उसका यथार्थ तत्त्व सत्सार की समझाने का महत्त्व और मूल्य परखा। इसी उद्देश्य से अगाध परिश्रम करके उन्होंने स्वयं ही अपने विशिष्ट दृष्टिकोण से जनवाणी हिन्दी में वेदों का भाष्य प्रस्तुत करने का महान् बीड़ा उठाया ! किन्तु हमारे दुर्भाग्य से केवल पूरी यजुर्वेद-संहिता और ऋग्वेद-महिता के आरम्भिक सात मंडलों तथा अन्य कुछ अंगों का ही भाष्य वह प्रस्तुत कर पाए—शेष कार्य

उनकी असामयिक मृत्यु के कारण ज्यों-का-त्यों अपूर्ण पड़ा रह गया। उनके इन वेद-भाष्यों में ऋषि, देवता, छन्द और पदच्छेद सहित मूल मंत्रों के साथ-साथ संस्कृत में पदों के प्रमाणयुक्त अर्थान्वय और पदयोजना के बाद अन्त में हिन्दी में भावार्थ दिया गया है। उनकी सबसे बड़ी विशेषता है निरुक्त की विधि से मंत्रों के शब्दों के यौगिक अर्थ की वह व्याख्या, जिसके द्वारा कई स्थलों पर मायण आदि पूर्वगामी भाष्यकारों से एकदम पृथक् अर्थ प्रस्तुत करने का दुरुह प्रयास उन्होंने किया है। उनका यह प्रयत्न कहाँ तक सही था, यह विद्वानों की दृष्टि में एक विवाद का विषय है। किन्तु वेदों-सबधी उनके अगाध ज्ञान तथा उनके उद्देश्य की सच्चाई के विषय में शायद ही कोई उँगली उठा सकता है। साथ ही आज से लगभग एक शताब्दी पूर्व राष्ट्रभाषा हिन्दी में, जिसे कि वह गर्व के साथ 'आर्य भाषा' कहकर पुकारते थे, इन महान् ग्रंथों का अनुवाद प्रस्तुत करके उन्होंने जिस दूरदर्शिता का परिचय दिया था, उसकी महत्ता को भी कौन अस्वीकार कर सकता है ?

'सत्यार्थप्रकाश' और अन्य रचनाएँ

वेदों के इन भाष्यों के अतिरिक्त उनकी अन्य कृतियाँ 'सत्यार्थप्रकाश', 'ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका', 'वेदांगप्रकाश', 'संस्कार-विधि', 'आर्याभिनिवय', 'पंच-महायज्ञ-विधि', 'गोकरुणानिधि', तथा कई एक खण्डन-मण्डनात्मक अन्य छोटी-बड़ी पुस्तक-मुस्तिकाएँ हैं। इनमें 'सत्यार्थप्रकाश' उनके विचारों का प्रतिपादन करनेवाला प्रतिनिधि ग्रन्थ है। इस पुस्तक में प्रथम दस समुल्लासों (अध्यायों) में क्रमशः परमेश्वर के नाम-गुण, माता-पिता और सतान के परस्पर कर्तव्य, शिक्षा, ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और सन्यास आदि आश्रमों के धर्म, राजधर्म, वेद और ईश्वर, सृष्टि की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय, विद्या-अविद्या, मोक्ष-बन्धन, आचार-अनाचार आदि का विशद विवेचन है। उसके अन्तिम चार प्रकरणों में संसार के विभिन्न मतों की (जिनमें बौद्ध, जैन, ईसाई और इस्लाम मत भी समिलित हैं) खण्डनात्मक आलोचना है। यह संपूर्ण ग्रंथ हिन्दी ही में है और उसके अन्त में 'स्वमन्तव्यामन्तव्यप्रकाश' शीर्षक से उन्होंने एक परिशिष्ट भी दिया है, जिसमें कि उनके अपने व्यक्तिगत मत विशेष का एक प्रकार से

साराश-सा आ गया है। इस ग्रन्थ के कारण समय-समय पर धर्म के क्षेत्र में काफी कटु विवाद उठा है और उसमें अन्य मत-मतान्तरों की जो अति उग्र आलोचना की गई है, उस पर विशेष रूप से अनेक आपत्तियाँ उठाई गई हैं। इसमें सदेह नहीं कि इस ग्रन्थ का यह आलोचना-भाग अत्यन्त कटु हो गया है और कहीं-कहीं पर उसमें केवल वितण्डावाद की-सी ध्वनि सुनाई देने लगती है। परन्तु इसका बहुत-कुछ दोष उस युग के धर्म-विवादों में अधिकतर प्रयोग में लायी जानेवाली उस ध्वसात्मक शैली ही के मत्थे मढ़ा जाना चाहिए, जो कि अन्य मत-मतान्तरों पर आक्रमण करने में अग्रणी विदेशी ईसाई मिशनरियों के हाथों में पड़कर और भी अधिक कटु बन गई थी। वस्तुतः दयानन्द का उद्देश्य किसी भी मत-मतान्तर पर अनुचित आक्रमण करके धार्मिक क्षेत्र में अकारण व्यर्थ की कटुता बढ़ाने का न था। वह तो केवल असत्य का भडा फोड़कर सत्य मार्ग की ओर संकेत करने के लिए ही सबसे अधिक उत्कण्ठित थे। वह जहाँ विविध धर्मों की बुराइयों से किनारा कसने का उपदेश देते थे, वहाँ साथ ही साथ उनकी अच्छाइयों को अपनाने के लिए जी खोलकर प्रोत्साहन देने में भी तो किसी से पीछे नहीं हटते थे ! यह बात 'सत्यार्थप्रकाश' के अंत में लिखित उनके निम्न वाक्यों से स्पष्ट हो जाती है—“मेरा कोई नवीन कल्पना या मत-मतान्तर चलाने का लेशमात्र भी अभिप्राय नहीं है, किन्तु जो सत्य है उसको मानना-मनवाना और जो असत्य है उसको छोड़ना-छुड़वाना ही मुझको अभीष्ट है।” निश्चय ही इन शब्दों में हम उस महान् सुधारक के व्यापक दृष्टि-कोण एवं उसके उद्देश्य की मच्चाई का समुचित प्रमाण मिल जाता है।

‘आर्य समाज’ की स्थापना

सन् १८७२ ई० के दिसम्बर मास में स्वामीजी धूमते-फिरते भारत की तत्कालीन राजधानी कलकत्ते पहुँचे। वहाँ उन्होंने अपने युग के धर्म के क्षेत्र के अन्य तीन प्रमुख भारतीय महापुरुषों—रामकृष्ण परमहंस, देवेन्द्रनाथ ठाकुर और केशवचन्द्र सेन—से भेंट की। केशवचन्द्र के नेतृत्व में ‘ब्राह्म समाज’ ने उनका हृदय से स्वागत किया और अपने कार्य में सहयोग की आशा से उनकी ओर भ्रातृत्व का हाथ बढ़ाया। किन्तु दयानन्द की उनके साथ पटना

कठिन था। कारण वह पाश्चात्यीकरण के घोर विरोधी थे और केवल वेदों की भित्ति पर प्रस्थापित विशुद्ध आर्य धर्म ही के प्रबल उपासक थे, जब कि केशव के नेतृत्व में ब्राह्म समाज अधिकाधिक ईसाइयत और पश्चात्य विचारों की ओर ही झुकना चला जा रहा था। वस्तुतः इस दिन पर दिन बढ़ते चले जा रहे पश्चिम के हानिकर प्रभाव और ईसाई मत की ओर कुछ शिक्षित लोगों के खतरनाक झुकाव को राष्ट्रीय हित की दृष्टि से रोकने के लिए, एक निश्चित सुसंगठित प्रयास करने की आवश्यकता अब दयानन्द को दिखाई देने लगी थी। वह एक ऐसी धर्म-वेदी की संस्थापना करने के लिए उत्कण्ठित थे, जो वेदों की नींव पर फिर से आर्य धर्म का झंडा खड़ा करके सारे देश को क्रमशः एक ही धर्मसूत्र में बाँध दे, साथ ही इस महाराष्ट्र की मूल संस्कृति को भी ज्यों-की-त्यों अक्षुण्ण बनाए रख सके। उनका यह विचार वर्षों से उनके अतस्तल में उमड़-धुमड़कर स्थूल रूप में मूर्तिमान होने के लिए उचित मौका ढूँढ़ रहा था। अंत में वह सुअवसर भी आ पहुँचा और दो वर्ष बाद बर्बर में १० अप्रैल, सन् १८७५ ई०, के दिन अपने सबसे महान् स्मारक ‘आर्य समाज’ की नींव डालकर उन्होंने उस धर्म-वेदी की प्रस्थापना कर दी, जिससे कि आज के दिन सब कोई परिचित है।

दस नियम

इस संस्था के विधान के रूप में स्वामीजी ने आरम्भ में २८ मूल धर्म-नियम निर्धारित किए थे, किन्तु १८७७ ई० में लाहौर में ‘समाज’ की प्रस्थापना के उपरान्त उनमें उचित संशोधन कर केवल निम्न १० नियम ही बाँध दिए गए, जो कि तब से ‘आर्य समाज’ की इमारत की मुख्य आधारशिला बने हुए हैं:—

१. सब सत्य विद्या और जो पदार्थ उक्त विद्या से जाने जाते हैं, उन सब का आदि मूल परमेश्वर है।

२. ईश्वर सच्चिदानन्दस्वरूप, निराकार, सर्व-शक्तिमान्, न्यायकारी, दयालु, अजन्मा, अनन्त, निर्विकार, अनादि, अनुपम, सर्वाधार, सर्वेश्वर, सर्वव्यापक, सर्वान्तर्यामी, अजर, अमर, अभय, नित्य, पवित्र और सृष्टिकर्ता है। उसी की उपासना करना उचित है।

३. वेद सब विद्याओं के आदि ग्रन्थ है। वेदों का पढ़ना-पढ़ाना और सुनना-सुनाना सब आर्यों का परम धर्म है।

४. सत्य ग्रहण करने और असत्य को छोड़ने में सर्वदा उद्यत रहना चाहिए।

५. सब काम धर्मानुसार अर्थात् सत्य और असत्य को विचार करके करना चाहिए।

६. सत्कार का उपकार करना इस समाज का मुख्य उद्देश्य है, अर्थात् शारीरिक, आत्मिक और सामाजिक उन्नति करना।

७. सबसे प्रीतिपूर्वक धर्मानुसार यथायोग्य बरतना चाहिए।

८. अविद्या का नाश और विद्या की वृद्धि करना चाहिए।

९. प्रत्येक को अपनी ही उन्नति में सतुष्ट रहना चाहिए, वरन् सबकी उन्नति में अपनी उन्नति समझना चाहिए।

१०. सब मनुष्यों को सामाजिक सर्वहितकारी नियम पालने में परतत्र रहना चाहिए और प्रत्येक वैयक्तिक हितकारी नियम के पालन में सब स्वतंत्र रहे।

प्रचार और संगठन

इन दस प्रधान नियमों के अलावा 'समाज' की रचना, शासन-व्यवस्था, उपासना-विधि आदि के सबंध में कुछ उपनियमों तथा प्रजासत्तात्मक सिद्धान्तों पर निर्धारित एक मोटे-से विधान का भी निर्माण साथ ही साथ कर दिया गया, ताकि यह सस्था एक मञ्ची जन-प्रतिनिधि अनुशासनबद्ध धर्मवेदी का स्वरूप ग्रहण कर सके। कहने की आवश्यकता नहीं कि इस महान् सस्था की प्रस्थापना के बाद मन् १८७७ ई० से १८८३ ई० तक स्वामीजी के जीवन के अंतिम छ-मात वर्ष उसका सुदृढ संगठन करने ही में व्यतीत हुए। उन्होंने देश के विभिन्न भागों में भ्रमण कर स्थान-स्थान में उसके केन्द्र और उपासना-मंदिर प्रस्थापित कर दिए, ताकि उसके मंच पर से धर्म, समाज और सुधार सबधी उनके विचारों का प्रचार होता रहे और उनके बाद भी वैदिक धर्म की पनाका फहराती रहे। इस कार्य में उन्हें सबसे अधिक सफलता पंजाब, उत्तर प्रदेश और राजस्थान में मिली। शीघ्र ही उत्तरी भारत के अनेक बड़े-बड़े नगरों में आर्य समाज के मंदिरों

की वेदिकाएँ निर्मित हो गईं, जहाँ सप्ताह में एक बार नियमित रूप से वेदपाठ, मन्त्र-स्तवन और हवन आदि के साथ एक ही अनंत अनादि परमेश्वर की आराधना-उपासना का एक नया क्रम देखने को मिलने लगा। इन प्रार्थनाओं में जातिगत भेदभाव का कोई अटकाव नहीं था, अतएव क्रमशः सभी वर्ग के लोग उनमें सम्मिलित होकर 'आर्य धर्म' के झंडे के नीचे आने लगे। उधर 'समाज' द्वारा प्रवर्तित शुद्धि की प्रथा ने अन्य धर्मावलम्बियों के लिए भी उसका द्वार खोल दिया।

इस जनसंस्था ने अपनी अतर्गित सेवाओं द्वारा देश के पुनर्जागरण के यज्ञ में महान् हाथ बँटाया। निद्राग्रस्त आर्य जाति की आँखें खोलने में उसने सबसे प्रबल योग दिया। उसके शुद्धि, संगठन, शिक्षा-प्रसार, अछूतों-द्वारा, बालविवाह-निषेध, विधवा-विवाह-प्रचार, आदि अनुष्ठानों से हिन्दू जाति को ईसाई मिशनरियों और इस्लाम के प्रहारों से अपनी रक्षा करने में बहुत बड़ी मदद मिली। देश की आजादी के लिए भी समय-समय पर सैनिकों को तैयार कर एवं राष्ट्रयज्ञ के लिए सबसे आगे बढ़कर आहुतियाँ दे इस संस्था ने मातृभूमि का भरपूर ऋण चुकाया। इसके पूरे विवरण के लिए तो पिछले पचहत्तर वर्ष के उसके घटनापूर्ण इतिहास के साथ-साथ आधुनिक भारत के विगत अर्द्ध-शताब्दी के मञ्चों व्यापक इतिवृत्त पर एक विहंगम दृष्टि डालने की आवश्यकता है। इसी संस्था से हमें लाजपतराय और श्रद्धानन्द जैसे महान् लोकनेता और गुरुकुल कांगड़ी-जैसी अद्वितीय शिक्षण-संस्था का उपहार मिला। उसने ही अध कुप्रथाओं के विरुद्ध अनवरत सग्राम छेड़कर हिन्दू समाज को पुनर्संस्कार के लिए तैयार करने में इस युग में सबसे अधिक रक्तदान दिया ! और यह सब-कुछ था उस महान् युगस्रष्टा नैष्ठिक ब्रह्मचारी स्वाधीन-चेता ऋषि दयानन्द के ही बीजारोपण का सुफल, जो आधुनिक भारत के अन्य एक दिव्य तपस्वी योगिराज अरविन्द घोष के शब्दों में 'परमात्मा की इस विचित्र सृष्टि का एक अद्वितीय योद्धा तथा मनुष्य और मानवीय संस्थाओं का संस्कार करनेवाला एक अद्भुत शिल्पी था।'

बलिदान और अंत

मन् १८८३ ई० के अंतिम दिनों में मारवाड़-नरेश का आमंत्रण पाकर स्वामीजी उपदेश के लिए

जोधपुर पहुँचे और वहाँ राज्य के अतिथिगृह में टिक-कर कई दिनों तक हजारों नरनारियों की उपस्थिति में नियमित रूप से नित्य धर्मप्रवचन करते रहे। इन्हीं दिनों की बात है कि उनके कतिपय विरोधियों और एक दुष्ट वेश्या के षड्यंत्र से, जिसके साथ महाराजा के अनुचित सबंध पर स्वामीजी ने घोर विरोध प्रकट किया था, उन्हें गुप्त रीति से घातक विष पिला दिया गया, जिससे उन्हें एक प्राणान्तक व्याधि लग गई! महाराजा साहब ने उनका उपचार कराने के लिए भरसक परिश्रम किया, परंतु कोई लाभ न हुआ। अन्त में वह उसी हालत में अजमेर लाये गए और वही सन् १९४० वि० की दीपावली (३० अक्टूबर, सन् १९८३ ई०) के दिन इस नश्वर शरीर को त्याग कर उन्होंने महानिर्वाण प्राप्त कर लिया। इस प्रकार आधुनिक भारत के उस अद्वितीय ऋषितुल्य राष्ट्र-निर्माता के रोमांचक जीवन-नाटक का अन्तिम यवनिकापात हुआ, जो उन्नीस वर्ष की आयु में ही गौतम बुद्ध की भाँति घर से निकला तो था स्वयं अपनी ही मुक्ति की खोज में, किन्तु शीघ्र ही अपना निजी सुख-दुःख भुलाकर जो समस्त जाति और राष्ट्र ही के मोक्ष के प्रश्न को अपना एकमात्र प्रश्न बना बैठा और जीवनभर उसी के समाधान के प्रयास में जूझते हुए अंत में उसकी ही बलिवेदी पर निछावर तक हो गया!

दयानन्द की देन

राममोहनराय की भाँति दयानन्द भी मूलतः एक धर्म-संस्कारक ही थे, परन्तु उनका व्यापक प्रभाव धर्म के साथ-साथ हमारे राष्ट्र के अन्य अंगों पर भी पड़े बिना न रह सका। उनकी 'स्वधर्म', 'स्वभाषा' और 'स्वदेश' की आवाज ने कालान्तर में इस देश में स्वराज्य का नारा बुलन्द करने में परोक्ष अथवा अपरोक्ष रूप से मूल्यवान् योग दिया। वह पश्चिम के प्रभाव और पाश्चात्य शिक्षा-दीक्षा से मुक्त विशुद्ध आर्य सस्कृति ही की उपज थे। अतएव भारतीय सस्कृति के मूल आदर्शों की पुनर्स्थापना के कार्य में जो प्रेरणा उन्होंने हमें दी, वह दूसरा कोई न दे पाया। वस्तुतः उनका काम हमारे आगे आनेवाले सर्वाङ्गीण राष्ट्रीय संग्राम के लिए अग्रिम रणशिविर तैयार करने का था और यह प्रमाणित करने की आवश्यकता नहीं कि इस

कठिन कार्य को एक महान् सेनानी की भाँति उन्होंने कितनी खूबी के साथ पूरा कर दिखाया। उनकी अपनी यह धारणा थी कि जिस जाति और राष्ट्र को अपने अतीत का अभिमान न हो, उसका भविष्य उज्ज्वल नहीं हो सकता। इसीलिए उन्होंने अपने देश की गौरवपूर्ण पुरातन कमाई के प्रति फिर से गर्व और सम्मान का भाव जागरूक करने तथा मूल भारतीय परंपरा में वाद को घुल-मिल जानेवाली अनैसर्गिक धाराओं के प्रभाव को झाड़-बुहारकर दूर करने के महत्कार्य के हेतु ही अपना सारा जीवन उत्सर्ग कर दिया।

उन्होंने मूर्ति-पूजा, बहुदेवोपासना, अधरूढिवादिता, अशिक्षा, परदा-प्रथा, बाल-विवाह, छुआछूत, आदि विविध कुसंस्कारजनित कुरीतियों पर जमकर प्रहार किया और 'आर्य समाज' के रूप में तो एक चिरस्थायी मोर्चा उन्होंने इन सबसे लोहा लेने के लिए इस देश में खड़ा कर दिया। राममोहनराय की तरह उन्होंने भी स्त्रियों के उत्थान के लिए जोरों से अपनी आवाज उठाई और उनको समान अधिकार देने के लिए समाज को प्रेरित किया। उन्होंने विधवा-विवाह, स्त्री-शिक्षा, अतर्जातीय विवाह आदि का जी खोलकर समर्थन किया, और स्त्रियों के लिए मातृत्व-प्राप्ति ही परम धर्म तथा विवाह का एकमात्र ध्येय उद्घोषित कर विशेष परिस्थितियों में 'नियोग' द्वारा सतान उत्पन्न करने की प्राचीन प्रथा तक का अनुमोदन उन्होंने किया!

इसी प्रकार अन्य धर्मावलम्बियों को, विशेषकर उन लोगों को जो कि विवशता में अपने धर्म से बिछुड़कर ईसाई या मुसलमान बन गए थे, शुद्ध करके 'आर्य धर्म' में मस्मिलित कर लेने की उनकी साहसपूर्ण नीति ने भी इस देश के धार्मिक और सामाजिक क्षेत्र में एक नवीन क्रान्ति का स्वर जगाया। तात्पर्य यह है कि हर दृष्टि से वह हमारे एक महान् युग-निर्माता राष्ट्र-नायक थे। उनकी क्रान्तदशिता का इससे बढ़कर और क्या प्रमाण हो सकता है कि जो प्रश्न आज के दिन हमारे मस्तिष्क में लगातार उमड़-धुमड़कर समाधान की राह खोज रहे हैं—जैसा कि राष्ट्र-भाषा विषयक प्रश्न—उनके प्रति आज में सत्तर-पचहत्तर वर्ष पूर्व ही वह रचनात्मक प्रयास के रूप में काफी ठोस कदम बढ़ा चुके थे! और तो और, देश के भविष्य को मानो पहले ही से पहचानकर आर्थिक दृष्टि से

औद्योगीकरण और यंत्रों के अधिकाधिक प्रयोग की आवश्यकता तक के पक्ष में उन्होंने अपनी आवाज बुलन्द की थी ! तो फिर किस प्रकार हम उस ऋषि की क्रातन्तर्दशिता और उसके प्रति अपने अगाध ऋण का सही-सही अनुमान करें ? निश्चय ही उसने अपने अमोघ मन्त्रों का दान देकर युग-युग के लिए हमें फिर से कगाल से धनी बना दिया !

दयानन्द के महान् उत्तराधिकारी श्रद्धानन्द

स्वामीजी के बाद आर्य समाज की वृद्धि और विकास करने तथा उनके द्वारा आरम्भ किए गए महान् कार्य को आगे बढ़ाने में जिन्होंने सबसे अधिक योग दिया, उनमें इस जनवेदी के आगे आनेवाले प्रमुख नेता प० गुरुदत्त विद्यार्थी, महात्मा मुशीराम (स्वामी श्रद्धानन्द), लाला लाजपत राय, महात्मा हसराम, आदि के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। इनमें सबसे महत्त्वपूर्ण नाम निस्संदेह महात्मा मुशीराम अर्थात् स्वामी श्रद्धानन्द का है, जिनका आर्य समाज के इतिहास में वही स्थान है, जो कांग्रेस के इतिहास में महात्मा गांधी का है। गांधीजी ने ही कांग्रेस को पहले-पहल एक बृहत् वादविवाद-समिति की स्थिति से उबारकर स्वातंत्र्य-संग्राम के एक सच्चे रणशिविर में परिणत कर दिया था तथा देश के सर्वतोमुखी उत्थान के दायित्व का काँटो का ताज पहनाकर कोरे स्वप्न देखने के बजाय रचनात्मक रूप से कुछ करने-धरने के लिए उसे सबल रूप से प्रेरित किया था। उसी प्रकार श्रद्धानन्द ने भी गुरुकुल-कांगड़ी जैसी अद्वितीय आदर्श शिक्षण-संस्था की प्रस्थापना कर तथा आर्य जाति को अपनी वर्तमान शिथिलावस्था की दयनीय स्थिति से ऊपर उठाने के हेतु उसके कानों में सगठन का मन्त्र फूँककर, सप्ताह में एक बार हवन-प्रार्थना करनेवाली धर्म-सुधारक-मंडली मात्र बने रहने के बजाय आर्य समाज को देश और जाति के पुनरुत्थान के एक सबल मंच में बदल देने का ऋषि दयानन्द के बाद सबसे जोरदार प्रयास किया था !

उनके महान् त्याग और अपने सद्गुद्देश्य के प्रति उनकी लगन की सच्चाई का इसमें अधिक प्रमाण और क्या चाहिए कि अपने इस अनुष्ठान की सिद्धि के हेतु उन्होंने अपना सर्वस्व त्याग कर संन्यासी का चोला धारण कर लिया और शुद्धि तथा संगठन के एक प्रबल आन्दोलन का प्रवर्तन

कर, अतः मे उसकी ही वेदी पर अपने प्राणों तक की आहुति चढ़ा दी ! श्रद्धानन्द का व्यक्तित्व आर्य समाज के इतिहास में उसके प्रवर्तक ऋषि दयानन्द के बाद सबसे बड़ा व्यक्तित्व है। वह एक सच्चे कर्मयोगी और लोककल्याण के लिए अपने प्राणों की बाजी लगा देनेवाले एक बेजोड़ नेता थे। यह हमारे लिए अत्यन्त दुर्भाग्य की बात थी कि एक धर्मान्ध हत्यारे की छूरी के शिकार होकर वह सन् १९२६ ई० के दिसंबर मास में सदा के लिए हमारे बीच से उठ गए। अन्यथा आज के दिन उनके महान् व्यक्तित्व, अद्भुत साहस और जाति-कल्याण की उनकी उत्कट लगन के द्वारा हमें एक अद्वितीय नेतृत्व का लाभ मिलता। कारण, वह कोरे धर्म अथवा समाज-सुधार के क्षेत्र ही के व्यक्ति न थे—वह हमारे एक सच्चे राजनेता भी थे, जैसा कि सन् १९१९-२० के पंजाब के दमन के जमाने में प्रदर्शित उनके साहस-पूर्ण रवैये से स्पष्ट था।

‘आर्य समाज’ की सेवाएँ

स्थानाभाववश हम यहाँ आर्य समाज की पिछली अर्द्धशताब्दीव्यापी महान् सेवाओं का सुविस्तृत विवरण देने में असमर्थ हैं। केवल यही भर सूचित कर देना पर्याप्त होगा कि यद्यपि स्वामी श्रद्धानन्द के निधन के बाद से उसका मोर्चा उपयुक्त नेतृत्व के अभाव में एक प्रकार से ठंडा-सा पड़ गया है और इन दिनों उसकी वह धूम नहीं है, जो स्वामीजी द्वारा प्रवर्तित महान् शुद्धि-संगठन के आन्दोलन के समय थी, फिर भी इस विशाल संस्था की लगभग डेढ़ हजार विभिन्न शाखाएँ आज भी स्थान-स्थान में प्रस्थापित हैं और उसके द्वारा विधवा-विवाह, अछूतों-द्वार, शुद्धि-संस्कार आदि के रूप में निरंतर सुधार-संगठन का न्यूनाधिक क्रम जारी है। अनेकों बड़े-बड़े कॉलेज, स्कूल और गुरुकुल उसके तत्वावधान में शिक्षण-कार्य कर रहे हैं और उसकी बलिवेदी पर समय-समय पर अब भी श्रद्धानन्द और लेखराम की तरह कितने ही रत्न अपनी आहुतियाँ देते चले जा रहे हैं।

कहना न होगा कि अभी आर्य समाज के इतिहास का अंतिम अध्याय नहीं पहुँच पाया है—उसे वस्तुतः आवश्यकता है एक और महान् नेता की ! और वह भी कभी आएगा ही, क्योंकि उसका खेत अब भी उर्वर है, वह ऊसर नहीं हो पाया है !



बंग देश के
हुगली जिले
मे रेल की सड़क
से लगभग पचीस
मील दूर, ताड़ और
आम के वृक्षों तथा धान के
खेतों की हरियाली मे छिपा
हुआ एक छोटा-सा गाँव है—
कामारपुकुर। यही आज से
सवा सौ वर्ष पूर्व १८ फर-

वरी, सन् १८३६ ई०, के दिन ब्राह्म मुहूर्त में एक
निर्धन किन्तु निष्ठावान् ब्राह्मण खुदीराम चट्टोपाध्याय
की कुटिया मे आधुनिक भारत के एक महाप्राण
युगपुरुष ने जन्म लिया था, उसकी तुलना यदि किसी
से की जा सकती है तो केवल अपने उन वैदिककालीन
क्रान्तदर्शी ऋषियो अथवा मध्यकालीन महान् भक्त
सत पुरुषों से ही, जिन्होंने अपनी आत्म-वीणा में
विश्व-विपश्ची के निगूढतम स्वरो का अनुसंधान
कर हमें मर्त्य से अमृत स्थिति प्राप्त करने का दिव्य
पथ सुझाया था ! विश्व-साहित्यकार रोम्या रोलाँ
के शब्दों मे—यह महापुरुष भारत के तीस कोटि
नर-नारियो की दो सहस्राब्दिव्यापी आध्यात्मिक
तपस्या के चिरवांछित वरदान के रूप में प्रकट

रामकृष्ण

हुआ था !' वह था
मानो इस वृद्धकाय
महादेश का आडे
दिनों के लए
संचित एक अमूल्य

पुण्यफल ! वह मानो दूसरा
दधीचि था, जिसने अपने
महान् तप का सार अर्पित कर
भौतिकवाद की भूलभूलैया
मे लडखडाते हुए मानव को

पुनः पार्थिव धरातल से एक स्तर ऊपर उठने के लिए
नवीन बल प्रदान कर दिया । उसने हमें फिर से उस
शाश्वत टोह की याद दिला दी, जिसकी पुकार ने
दो हजार वर्ष पूर्व कपिलवस्तु के एक करुणार्द्र राज-
कुमार को सब-कुछ ठुकराकर आधी रात को विजन
की राह लेने के लिए विवश कर दिया था ! वह था
महावीर, बुद्ध, मुकरात, चैतन्य और सत फ्रान्सिस
जैसी विश्व विभूतियों की कोटि का एक महासाधक,
जिसकी महानता उसकी तपोमय जीवन-साधना ही
में निहित थी, कोरे दिमागी तर्क-वितर्क और सूखे
बुद्धिवादी विचार-मथन मे नही। यह हमारा परम
सौभाग्य था कि वह हमारे राष्ट्रीय इतिहास के एक
अत्यन्त सकटपूर्ण सक्रांतिकाल मे पैदा हुआ ! उसने

सशय, अश्रद्धा और पारस्परिक मतभेद के अध-
कप की ओर लुढ़कते जा रहे ससार को, और
विशेषकर इस देश को, फिर से सब धर्मों की मूल-
भूत एकता, ईश्वर की अलौकिक सत्ता एवं आध्या-
त्मिक जीवन की महत्ता में विश्वास जमाने की
सबल प्रेरणा दी और निर्गुण-सगुण, एक-अनेक,
मूर्त-अमूर्त, सभी का मूल्य बतलाकर हमें समन्वय
का एक असामान्य पाठ पढ़ाया।

कितने अचरज की बात थी कि इस सीधे-सादे पगले-
जैसे ग्रामीण पुजारी ने न तो कभी किसी ऊँचे
दर्जे के स्कूल, कॉलेज या विश्व-विद्यालय में शिक्षा
पाई, न किसी पुस्तकालय की पोथियाँ ही उलटी-
पलटी ! न दूर-दूर देशों का भ्रमण-पर्यटन किया, न
लम्बे-चौड़े व्याख्यान दिए ! न पांडित्य बधारा और
न पुस्तक-पुस्तिकाएँ ही लिखी ! फिर भी उसने
दिग्गज नाकिकों तक को श्रद्धा की राह पर ला
दिया और पूर्व से पश्चिम तक अपनी आभा फैला
दी ! निश्चय ही यह उसकी अलौकिक सिद्धि और
जन्मजात महानता का ही प्रकाश था।

वस्तुतः धर्म और संस्कृति के विभिन्न पहलुओं में
एकता का सत्य खोज निकालने तथा मानव को देवत्व
की कक्षा तक ऊँचा उठा ले जाने का जैसा सफल
प्रयास इस अद्भुत सत—परमहंस रामकृष्ण—ने
किया, कम-से-कम इस युग में दूसरा शायद ही
कोई कर पाया हो ! और यदि उसकी अन्य देनों
को हम क्षण भर के लिए भूल भी जाएँ, तो यही
क्या कम महत्त्व की बात है कि उसी से हमें
विवेकानन्द जैसा महान् जननायक और शिक्षागुरु
प्राप्त हुआ ! रामकृष्ण एक महात्मा ही नहीं, वह
इस देश के एक सच्चे युग-निर्माता भी थे। उनसे
जो-जो स्थायी वरदान हमने पाए, उनका संपूर्ण मूल्य
आँकने के लिए अभी हमें अपने विकासक्रम की
कई सीढ़ियाँ लाँघनी होंगी !

अद्भुत अलौकिक बालक

रामकृष्ण के जीवन के आरम्भिक सोलह वर्ष
कोई विशेष घटनापूर्ण नहीं कहे जा सकते, यद्यपि
यह सच है कि इन आरम्भिक दिनों ही में उनके
उम्र अमामान्य भावावेग और लोकोत्तर आवेश
के लक्षण स्पष्ट हो चले थे, जिससे आगे चलकर
उनका सागरी जीवन परिप्लवित हो गया। कहते
हैं, जब वह छः या सात वर्ष की कें थे, तभी एक

दिन आसपास के धान के खेतों में घूमते-फिरते समय
अचानक सामने आकाश में छा जानेवाली एक
काली घटा और उसके सन्मुख उड़कर जाते हुए
श्वेत बगुलों की पंक्तियों के मुहावने दृश्य को
देखकर अलौकिक ढंग से आनन्द-विभोर हो गए थे
वह समाधिस्थ हो वही धरती पर गिर पड़े थे
और गाँववालों को उठाकर उन्हें उनके घर पहुँचाना
पड़ा था ! इसी तरह एक और अवसर पर किसी
धार्मिक स्वांग में शिव का अभिनय करते समय भी
इस अद्भुत बालक की कल्पना उसे अपने मनो-
राज्य की ऊँची भूमिका तक उड़ा ले गई थी।
वह सचमुच ही अपने आपको शिव मानकर उस
अनुभूति की अवस्था में ज्यों-का-त्यों धकित-चकित सा
लगभग तीन दिन तक बेसुध पड़ा रह गया था !

उसका यह अलौकिक असामान्य बर्ताव देखकर
जहाँ गाँव के अन्य लोगों को केवल विस्मय ही होता,
वहाँ साथ ही उसके माता-पिता को अत्यधिक चिन्ता
भी होने लगती ! उसे पढ़ने-लिखने का विशेष अनु-
राग न था, यद्यपि उसकी बुद्धि कुटित न थी। उमे
तो बचपन ही से यदि किसी बात की अभिरुचि थी
तो केवल धार्मिक क्रिया-कलापों की ही—वही
उसका खेल-कूद था। प्रायः वह गाँव के कुम्हारों
से देवी-देवताओं की मिट्टी की मूर्तियाँ बनाना
सीखा करता अथवा अपनी उम्र के लड़कों को
जुटाकर किसी पौराणिक कथा के नाट्याभिनय का
खेल रचा करता। उसे गाँव के पाम में निकलने-
वाले तीर्थ-यात्रियों और साधु-सन्यासियों की सेवा
करने तथा उनकी सगति में समय बिताने का विशेष
चस्का था। वह बड़े ध्यानपूर्वक उनके भजन-गीत,
धर्म-संवाद, कथा-वार्त्ता आदि सुनता और स्वयं भी
भक्ति-रस से सने हुए गीत गा-गाकर गाँववालों
को विमग्न किया करता था। इस प्रकार आस-
पास के गाँवों में दूर-दूर तक वह एक अलौकिक
बालक के रूप में प्रख्यात हो नला था और स्वयं
अपने ही गाँव में तो प्रत्येक घर का वह मानो दुलारा
ही बन गया था !

कामारपुकुर से दक्षिणेश्वर

इस अनोखे व्यक्ति का बचपन का नाम था
'गदाधर', यद्यपि आज के दिन सब कोई उसके
बाद को मशहूर होनेवाले नाम 'रामकृष्ण' ही से
उसका उल्लेख करते हैं। कहते हैं, जब गदाधर

की उम्र केवल सात वर्ष की थी, तभी उसके पिता इस लोक से चल बसे थे। परिवार की आर्थिक परिस्थिति, जो पहले ही कोई बहुत अच्छी न थी, तब से और भी अधिक बिगड़ चली, और कुछ ही दिनों में वह इस हद तक गिर गई कि खाने-पीने के भी लाले पड़ने लगे। अन्त में सबसे बड़े लड़के रामकुमार ने कलकत्ते जाकर एक छोटी-सी संस्कृत-पाठशाला खोल ली और १८५२ ई० के लगभग वही उसने अपने छोटे भाई गदाधर को भी बुला लिया।

इस समय गदाधर की उम्र सत्रह वर्ष की थी और किशोरावस्था को लौंघकर वह युवावस्था के द्वार पर आ खड़ा हुआ था। परन्तु अब भी वह बच्चों जैसा ही था। न तो उसने अब तक विशेष शिक्षा पाने का ही कोई प्रयास किया था, न धन-दौलत, पांडित्य आदि के द्वारा सासारिक उत्कर्ष प्राप्त करने की ही अभिलाषा उसके मन में जग पाई थी! वह था एक ठंड देहाती युवक, जो अपनी बालोचित सरलता, असाधारण भावुकता और सासारिक विषयो के प्रति मुस्सष्ट अनासक्त भाव के कारण साधारण जनो की निगाह में निरे एक पगले-जैसा लगता था। बड़े भाई ने तो उसे पढ़ाने-लिखाने का भरपूर प्रयास किया, किन्तु इस काम में उसका तनिक भी जी न लगा। उसे तो मन-ही-मन एक अनीखी प्यास सता रही थी। वह सासारिक धरातल से ऊपर उठकर इस दृश्य प्रपंच में परे के अमरलोक में जा बसने के लिए उत्कण्ठित हो रहा था। आखिर एक दिन उसने बड़े भाई से स्पष्ट शब्दों में कह दिया कि मुझे रोटी कमाने की कोई विद्या नहीं सीखना है, मेरा तो लक्ष्य केवल भगवान् को प्राप्त करना है।

और विधि की कृपा से शीघ्र ही उसे अपने मन के अनुकूल उपयुक्त कार्यक्षेत्र भी मिल गया— वह बन गया एक काली-मन्दिर का प्रधान पुजारी। बात यो हुई कि सन् १८५५ ई० में रामकुमार को कलकत्ते से चार मील दूर दक्षिणेश्वर में रानी रासमणि नामक एक धनाढ्य और धर्मपरायण महिला द्वारा प्रस्थापित एक नवीन काली-मन्दिर के मुख्य पुजारी का पद प्राप्त हो गया। फलतः गदाधर को साथ लेकर उसने कलकत्ते से उठकर वही अपना डेरा-आसन जा जमाया। परन्तु इस बात को मुश्किल से एक वर्ष भी न बीत पाया होगा कि रामकुमार

की मृत्यु हो गई और मन्दिर की पूजा का सारा भार अचानक आ पड़ा बेचारे गदाधर के ही कंधों पर! यही से उसके जीवन में एक युगान्तरकारी पटपरिवर्तन का क्रम आरम्भ हो गया।

अनीखी तड़पन

अब उसे मन्दिर के कार्य के नाते नित्य ही बड़े तड़के में नौ-दस बजे रात तक लगातार भगवती काली की सेवा-अर्चना ही में लगा रहना पड़ता था। उसके ही साथ उसका उठना-बैठना होता था, उसी के साथ सोना और जागना। प्रति दिन वही प्रधान पुजारी की हैमियत से उस महामाया का अभिषेक करता। तरह-तरह के वस्त्रालकारों और पुष्पमालाओं के श्रुगार से उसे सजाता। अगर-धूप-दीप आदि से उसकी आरती उतारता। नैवेद्य आदि चढ़ाता और इस प्रकार की षोडशोपचारयुक्त पूजा के अन्त में विधिवत् उसे शयन कराना।

इस नित्यप्रति के निकट संपर्क और मन्दिर के भक्तिरस-परिप्लावित वातावरण का प्रभाव उस जैसे जन्मजात भावुक व्यक्ति के सेवेदनशील हृदय पर पड़े बिना आखिर कब तक रह सकता था? कब तक वह सुबह से शाम तक अपने आस-पास गूँजते रहनेवाले उस घण्टा-निनाद, मन्त्रोच्चार और गायन-स्तवन के हृदयहारी स्वर एवं श्रद्धाभक्तिपूर्वक अर्पित किए गए धूप-दीप-नैवेद्य के मादक सौरभ के नशे से अपने आपको बचाए रख सकता था?

अतः शीघ्र ही उसका भावुक हृदय हिल चला और गहराई के साथ अब उस पर भगवती काली की भक्ति का रङ्ग चढ़ने लगा। वह पागल-सा हो चला और अतः स्थिति इस सीमा तक पहुँच गई कि उस पाषाण-प्रतिमा ही में वह उस जगद्धात्री का प्रत्यक्ष साक्षात्कार करने के लिए आकुल हो उठा।

अब उसे न तो अपने तन की ही सुध थी, न मन की। वह तो घण्टों उस देवी की प्रतिमा के आगे पागलों की तरह लोटपोट होकर छटपटाना रहता था। उसकी आँखों से आँसुओं का प्रवाह नहीं थमता था और मुँह से 'माँ' शब्द नहीं छूटता था। उसके लिए ससार की सभी वस्तुएँ अब फीकी और नीगस थी—केवल उस पत्थर की मूर्ति को एक बार जीवन के स्वर से स्पन्दित होते देखने भर के लिए ही उसकी आँखें तरस रही थी। पर क्योकर वह निर्मम पाषाण पसीजता। 'वस्तुतः इस

पत्थर के भीतर कोई है भी ?' उसके मन में रह-रहकर यह विचार उठता, और करुणार्द्र स्वर में वह उसी से पूछने लगता—'माँ, क्या समुच्च ही तुम इसमें हो भी, या यह कवियों और भक्तों की कोरी कल्पना मात्र है ? क्या मच ही तुम्हारा कोई अस्तित्व भी है ? और यदि है तो फिर तुम मौन क्यों हो, क्यों नहीं अपने भक्त के सन्मुख प्रकट हो उसे निहाल कर देती ? क्या इस विश्व का भरण-पोषण करनेवाली कोई शक्ति है भी, या वह एक निग सपना ही है ?'

‘महाभाव’ की उच्च भूमिका

इस प्रकार छटपटाते, तड़पते, आँसू बहाते महीनो वीत जाने पर भी जब वह पत्थर न हिला, तब एक दिन अपने निरर्थक जीवन का अन्त करने का दृढ़ सकल्प कर उमने समीप ही मंदिर की दीवार पर टँगी हुई नगी तलवार को उठा लिया । किन्तु यह क्या ? दूसरे ही क्षण ऐसा प्रतीत हुआ मानो उसके आस-पास की सभी वस्तुएँ—वह मन्दिर का कक्ष, वे द्वार और खिड़कियाँ—सभी—कुछ एकदम लुप्त-सी हो गईं और उसके बदले चारों ओर से लोकोत्तर तेज का एक अगाध अदत महासागर-सा उमड़ पड़ा, जिसमें वह एकवारगी ही डूब-सा गया !

वह अचेत-सा होकर धरती पर गिर पड़ा । पर उस बेसुध दशा में भी वह अपनी अन्तरात्मा की गहराई में एक अभूतपूर्व नूतन चेतना का अनुभव करता रहा । उसे अपने भीतर और बाहर सर्वत्र एक अलौकिक तेजोमयी शक्ति की विद्यमानता का सजग भान प्रतिक्षण हो रहा था । स्पष्टतया कोई उसके हृदय पर मानो प्रेम की मीठी-मीठी थपकियाँ-सी दे रहा था । भक्त को भगवान् मिल गया था और उसका रोम-रोम एक अनिर्वचनीय आनन्द की पुलक से मिहर उठा था । इस समाधि की अवस्था में गदाधर तीन दिन तक सज्ञाशून्य की भाँति जहाँ का तहाँ ही पड़ा रहा ।

किन्तु ज्योंही उसे पुन चेत हुआ, अपने उपास्य को सामने से अतर्द्वान् हुआ देवकर अब वह और भी अधिक व्याकुल हो उठा । उसके लिए अब अपने इष्ट का क्षण भर का भी विरह असह्य था । वह घायल की तरह तड़पने लगा । ‘माँ, माँ’ पुकार-पुकारकर सिर धुनने लगा । यहाँ तक कि धरती पर पछाड़ खाकर और मस्तक रगड़-रगड़कर उसने अपने

आपको लोहूयुहान कर लिया । लोगो ने समझा कि निश्चय ही अब वह पागल हो गया है । परन्तु उसकी व्यथा का मर्म तो केवल वही जानता था ।

अत मे उसके लिए मंदिर के पूजा-अनुष्ठान सबधी विविध क्रियाकलापों का विधिवत् उत्तरदायित्व निभाना नितान्त कठिन हो गया । उसका स्वास्थ्य भी दिन-पर-दिन चिन्ताजनक हो चला । उसकी देह प्रायः अगारे की तरह तपा करती और कभी-कभी तो उसके रोमकूपों से रक्त की छोटी-छोटी बूँदे तक बाहर उभर आती । इस तड़पन की दशा में यदि कोई एक अवलव उसे प्राप्त था, तो केवल यही कि जब भी उसकी वेदना की पराकाष्ठा हो जाती, तब मानो किसी पारलौकिक शक्ति की अनुकपा से उसका शरीर सज्ञाहीन-सा हो जाता । उस समाधि के महासागर में उतरकर इष्ट के साथ आत्म-साक्षात्कार करते हुए उतने समय के लिए वह चिदानन्द में लीन हो जाता था !

आठों पहर का साक्षात्कार

इस प्रकार साधना के धक्कते पथ पर अग्रसर हो उसने अपने और अपने उपास्य के बीच का पर्दा फाड़ फेंकने में सफलता पा ली । अतः एक दिन आया जब कि वह ‘महाभाव’ की उस उच्च भूमिका पर पहुँच गया, जहाँ उसे इष्ट-दर्शन के लिए अब किसी भी बाहरी प्रयत्न की आवश्यकता ही नहीं रह गई । अब तो आठो पहर भगवती उसकी आँखों में रमने लगी । वह सदा के लिए उसके मन-मंदिर में आ बसी ! उसके लिए वह जड़ पत्थर पिघलकर सजीव हो उठा ! अब तो वह घटो उसके साथ बातचीत करता । वह उससे अनुनय-विनय करता और हँसी-ठठोली तक करता था ।

उसके इस असामान्य बर्ताव और दिन-पर-दिन गिरते चले जा रहे स्वास्थ्य में घबड़ाकर आखिर मंदिर की सस्थापिका रानी रासमणि ने अपने दामाद माथुर बाबू की सहायता में कलकत्ते के अच्छे से अच्छे डॉक्टरों को बुलवाकर उसका औषधि-उपचार कराने का प्रयत्न किया । किन्तु सब-कुछ बेकार सिद्ध हुआ । तब अज्ञानवश यह सोचकर कि सभवतः कठोर इन्द्रिय-दमन के कारण ही उसकी यह दशा हो रही हो, उन्होंने एकान्त में उसके पाम युवती वारागनाओं तक को भेजा ! किन्तु इस उपाय का भी उस पर कोई प्रभाव न पड़ा—उल्टे

चौककर वह और भी अधिक आतुरतापूर्वक अपनी साधना में तल्लीन हो गया। अंत में सब उपाय विफल होने पर मन्दिर के इन व्यवस्थापकों ने पूजा का भार उसके भतीजे—हृदय—को सौंपकर वायु-परिवर्तन के लिए उसे कुछ दिनों के वास्ते वापस अपने गाँव कामारपुकुर भेज दिया।

देहात में आकर जब कुछ समय बाद गदाधर फिर से सामान्य बर्ताव करने लगा, तो उसकी माता तथा अन्य अभिभावकों ने यह विचार कर कि संभवतः विवाह से उसके स्वास्थ्य में अनुकूल परिवर्तन हो जायगा, उसके आगे शादी का प्रस्ताव रक्खा। और सबको महान् आश्चर्य हुआ, जब कि अपने भोले स्वभाव के कारण वह न केवल उनकी बात से सहमत ही हो गया, बल्कि स्वयं ही उसने उस कन्या को भी चुन लिया, जिसके भाग्य में उसकी जीवन-सहचरी होना बदा था। इस प्रकार तेईस वर्ष के इस पागल-जैसे युवक का शारदामणि नामक एक पाँच वर्ष की बालिका के साथ सदा के लिए गठबंधन हो गया। पर यह विवाह क्या था, एक खिलवाड़-सा था। वस्तुतः जीवन भर कभी भी इस अनोखी जोड़ी में सासारिक दाम्पत्य-संबंध स्थापित न हो पाया। बल्कि इस अद्भुत तपस्वी ने अपनी इस जीवन-सगिनी को भी भगवती काली का ही एक रूप मानकर उसी भाव से उसकी पूजा-अर्चना की और कालान्तर में उसे भी उसने बहुत-कुछ अपने ही रंग में रँग लिया।

कठोर साधना

डेढ़ वर्ष बाद गाँव से लौटकर गदाधर ने जब पुनः दक्षिणेश्वर के अपने उस सुपरिचित मंदिर के प्रांगण में कदम रक्खा, तो क्षण भर ही में उसका वह पुराना पागलपन मानो फिर से सहरा हो उठा और एक बवण्डर की तरह उसके अतस्तल में जग पड़ा फिर से वही दुर्द्धर्ष आध्यात्मिक साधना का तूफान। फिर से वह उसी प्रकार कातर वाणी में 'माँ, माँ' पुकारकर सिर धुनने लगा। बात-बात में वह अचेत होने लगा, और इष्टसिद्धि के लिए अपने आपको तरह-तरह की कठोर साधनाओं के शिकजे में कसने लगा। कहते हैं, इन्हीं दिनों अपने मन के अहंकार को कुचलने के लिए उसने लुक-छिपकर कई बार अपने सिर के बालों से मेहतरो के घर-आँगनों को झाड़ा-बुहारा। उसने अपने हाथों उनके पाखानों तक

को साफ किया। इस कठोर तपश्चर्या के फलस्वरूप जहाँ उसका अतःकरण कसौटी पर चढ़ाए गए सोने की भाँति दुगुने तेज के साथ दमकने लगा, वहाँ उसके शरीर को बदले में काफी गहरा मूल्य भी चुकाना पड़ा। उसकी देह क्रमशः सूखकर काँटा हो चली और सबसे अधिक चिन्ताप्रद बात तो यह थी कि उसकी आँखें अब पागलों की तरह चौबीसों घंटे खुली ही रहने लगी—उसके लिए अपने पलक गिराना असंभव हो गया।

उसकी तदुत्सृष्टि इतनी ब्रिगड् गई कि फिर डॉक्टर-वैद्यों की शरण लेना अनिवार्य हो गया। परन्तु कठिनाई तो यह थी कि कोई भी उसके रोग का ठीक से निदान ही नहीं कर पाता था। और कोई उसकी उस बीमारी को समझता भी तो कैसे? उसकी व्यथा का मर्म समझने के लिए तो दरअसल आवश्यकता थी आध्यात्मिक क्षेत्र के किसी जानकार चिकित्सक की—एक पहुँचे हुए सच्चे गुरु की। वही अँधेरे में टटोल-टटोलकर आगे बढ़ते चले जा रहे इस अनाड़ी-जैसे साधक को योग की विज्ञानसिद्ध पगडंडी पर लाकर आध्यात्मिक सकट की उम स्थिति से उसे उबार सकता था।

भैरवी संन्यासिनी

तब दैवयोग से अनायास ही विधाता ने एक दिन घर-बैठे ही उसे वह मनचाहा पथप्रदर्शक भी ला दिया। उसकी उँगली पकड़ते ही हमारे इस युवा चरितनायक की जीवन-साधना के क्रम में एक नया पट-परिवर्तन हो गया। कहते हैं, एक दिन यह पागल पुजारी दक्षिणेश्वर के मन्दिर की अगासी पर खड़ा हो गया के वक्षस्थल पर अठखेलियाँ करती हुई लहरों और नौकाओं का दृश्य निहार रहा था। इतने में एक नौका आकर नीचे घाट पर लगी। उसमें से उतरकर क्षणभर में ऊपर मंदिर के प्रांगण में आ खड़ी हुई गेरुआ धारण किए, खुले केशपाश से युक्त, लगभग चालीस वर्ष की एक तेजस्वी भैरवी संन्यासिनी। वह गदाधर को देखते ही इस प्रकार आतुर हो उसकी ओर दौड़ पड़ी, जैसे बरसों से बिछुड़ी हुई कोई माँ अचानक अपने बच्चे को सामने पाकर लपक पड़े। 'आह बेटा! कितने लम्बे अरसे से मैं तुम्हें खोजती यहाँ से वहाँ भटक रही थी'—उसने आनन्दाश्रुओं से अबरुद्ध कण्ठ से गद्गद स्वर में गदाधर से कहा। आश्चर्य की बात तो यह थी

कि स्वयं गदाधर ने भी उसे देखते ही इस प्रकार उसके प्रति व्यवहार करना शुरू किया मानो वह बरसों से उसे जानता-पहचानता रहा हो ! उसने अपने आपको वैसे ही उसके हाथों में सुपुर्द कर दिया, जैसे कोई बालक पूरे विश्वास के साथ माँ की गोद में अपने को छोड़ दे ! इस तरह बात ही बात में दोनों में माँ-बेटे का-मा सम्बन्ध प्रस्थापित हो गया। उसी क्षण में नवागन्तुक सन्यासिनी ने इस तरुण साधक की सारी देखरेख का भार अपने ऊपर ले लिया !

अवतारी महापुरुष

यह नवागन्तुक स्त्री प्राचीन तत्र और भक्तियोग के निगूढ तत्त्वों में पारगत एक अन्यतम विदुषी थी। वह पूर्वीय बंगाल के एक उच्च ब्राह्मण-कुल में पैदा हुई थी। पिछले कई दिनों से ससार त्याग-कर वह एक ऐसे अलौकिक व्यक्ति की खोज में यहाँ से वहाँ भटकती फिर रही थी, जिसे एक गुह्य संदेश देने के लिए उसे स्वप्न में एक ईश्वरीय आदेश मिला था। उसके आनंद का पारावार न रहा, जब उस दिन अनायास ही उसे दक्षिणेश्वर के उम ग्रामीण युवक पुजारी के रूप में अपने स्वप्न-लोक का वह दिव्य पुरुष मिल गया। जब उसने उसमें स्पष्टतः प्राचीन भक्ति-ग्रंथों में वर्णित 'महाभाव' की उच्च स्थिति पर पहुँचे हुए महात्माओं के-से लक्षण देखे, तब तो उसका मन एक अनिर्वचनीय उल्लास में नाच उठा ! उसने नुरत ही इस प्रकार की भाव-स्थिति पर पहुँचे हुए व्यक्ति की शारीरिक शुश्रूषा के लिए शास्त्रों में निर्दिष्ट विधेय उपचारों द्वारा गदाधर को उन व्याधियों से मुक्त करने में अपना हाथ लगाया, जो बड़े-बड़े डॉक्टरों तक की समझ में नहीं आ रही थी। जब वह शीघ्र ही फिर एकदम तदुरुस्त हो गया, तब उँगली पकड़कर उसने उसे तत्र और योग के दुरुह पथ पर विधिपूर्वक एक-एक डग आगे बढ़ाना शुरू किया।

अल्पकाल ही में जब वह तत्र और योग की क्रियाओं में पूर्ण निष्णात हो गया, तब उस महिला ने धर्मतत्त्व के ज्ञाता ख्यातनामा पंडितों की एक सभा आमंत्रित की। उनके सामने उसने सप्रमाण यह सिद्ध कर दिया कि भावोद्भेद की अन्यतम अवस्था में पागल-सा दिखाई पड़नेवाला यह युवक कोई सामान्य व्यक्ति नहीं है ! वह है वास्तव में बड़े भाग्य से कभी-

कभी ही पृथ्वीतल पर अवतीर्ण होनेवाला एक दिव्य अवतारी पुरुष ! उसकी समता इतिहास में चैतन्य जैसे भक्त महापुरुषों ही में पाई जाती है। कहने की आवश्यकता नहीं कि सभी विद्वानों ने एक स्वर में उस विदुषी का यह निर्णय स्वीकार कर इस नवीन सत के आगे शीघ्र नवाया। तब तो दक्षिणेश्वर का वह काली-मंदिर धर्मपिपासु लोगों के लिए मानो एक तीर्थस्थल बन गया। वहाँ मुक्ति की कामना लिए हुए अगणित नर-नारी दूर-दूर से आने लगे और उस महापुरुष की एक झलक मात्र पा अपने आपको कृतार्थ मानने लगे !

तोतापुरी से भेंट और संन्यास

किन्तु इस महासाधक की साधना का क्रम यही तक पहुँचकर समाप्त नहीं हो गया। वस्तुतः ईश्वर की ओर लगे जानेवाली जितनी भी पगडाँडियाँ बताई जानी हैं, उन सबको क्रमशः आरंभ से अंत तक नापकर उनकी यथार्थता सिद्ध करने के लिए यह अनोखा तपस्वी उत्कण्ठित था ! अतएव अब एक के बाद एक प्रायः सभी मत-मतान्तरों की साधन-प्रणालियों से उसने ईश्वर-प्राप्ति के लिए विधिपूर्वक प्रयोग करना आरंभ किया। पहले लगभग तीन वर्ष तक ऊपर उल्लिखित भैरवी ब्राह्मणी को अपनी पथ-प्रदर्शिका बनाकर तत्र की विधि से तो वह साधना कर ही चुका था। तदनंतर उसी के नत्वावधान में शांत, दास्य, सख्य, वात्सल्य और मधुर भावों की उपलब्धि द्वारा वैष्णव पद्धति से भी इष्ट-प्राप्ति का सफल प्रयोग उसने किया।

इसके बाद एक दिन अचानक ही तोतापुरी नामक एक पहुँचा हुआ अद्वैत वेदान्ती सन्यासी घूमता-फिरता वहाँ आ पहुँचा। इस अद्वितीय साधक को देखकर वह अत्यधिक प्रभावित हुआ। परिव्राजक होने के कारण नियमानुसार यद्यपि वह तीन दिन से अधिक किसी भी स्थान में नहीं टिकता था, फिर भी इस प्रतिभावान् युवक के आकर्षण से लगभग ग्यारह महीने तक वह दक्षिणेश्वर में डटा रहा ! उसने केवल तत्र और भक्ति की राह से अब तक द्वैतमूलक उपासना के पथ पर अग्रसर होते चले जा रहे इस नवयुवक को वेदान्तसम्मत शुद्ध ज्ञानमार्ग की ओर मोड़कर उस उच्च अद्वैतसिद्धि की भूमिका तक पहुँचाने का निश्चय किया, जिसे पा लेने पर फिर किसी भी साधक के लिए कुछ

करना शेष नहीं रह जाता—जहाँ जगत्, जीव और माया विषयक सभी बंधन छूट जाते हैं और साधक तथा साध्य के बीच का व्यवधान सदा के लिए मिट जाता है। इस नवीन साधना में प्रवृत्त करने के पहले उसने आश्रम-धर्मानुसार गदाधर को 'रामकृष्ण' के नाम से विधिवत् दीक्षित कर पहले अपनी ही भाँति एक दण्डी सन्यासी में परिणत किया। तब शास्त्रीय पद्धति से उसे वेदान्त का पाठ पढ़ाना शुरू किया। पर उसके आश्चर्य का ठिकाना न रहा, जब इस अनूठे शिष्य ने बात ही बात में 'निर्विकल्प समाधि' की उच्च स्थिति तक ऊपर उठकर कुछ दिनों ही में उस दुरुह साधना में अपने आपको सिद्ध बना लिया, जिस पर विजय पाने में उसके गुरु को पूरे चालीस वर्ष लगे थे !

परमहंस स्थिति :: अन्य मार्गों की भी परख

इस प्रकार द्वैत और अद्वैत, मगुण और निर्गुण, भक्ति और ज्ञान, सभी की पगडंडियों से आत्म-साक्षात्कार कर यह महापुरुष अल्पकाल ही में भारतीय धर्म और साधना के क्षेत्र की सर्वोच्च अवस्था—परमहंस स्थिति—पर पहुँचकर जीवन्मुक्त हो गया ! परन्तु इस पर भी उसके अनुष्ठानों की अभी इतिश्री नहीं हुई। उसने अब हिन्दू-धर्म की परिधि को लाँघकर ससार के अन्य महान् धर्मों की भी राहों को आजमाने के लिए अपना हाथ बढ़ाया। इसी उद्देश्य से उसने क्रमशः इस्लाम और ईसाइयत की विधिपूर्वक दीक्षा लेकर उक्त दोनों मतों की निर्दिष्ट पद्धतियों से भी साधना करने का सफल प्रयास किया। सारांश यह कि अपनी साधना द्वारा मानो ताल ठोककर उसने यह प्रमाणित कर दिया कि चाहे जिस मार्ग को भी अपनाया जाय, सभी उसी एक परमपिता परमात्मा ही की ओर ले जानेवाले हैं, जो सब धर्मों का मूल ध्येय है !

अतः जब ससार के सभी मुख्य-मुख्य धर्मों की मूलभूत एकता के सत्य को परखकर तथा विविध प्रणालियों से अदृष्ट के महासागर में डुबकी लगाकर यह महापुरुष उस परम सत्ता के 'मत्य', 'शिव' और 'सुंदर' स्वरूप की मनचाही झाँकी पा चुका, तब अपनी खोज के क्रम में बटोरे गए कुछ अनमोल मुक्ता-मणिओं को आसपास एकत्रित मुमुक्षु साधकों और शिष्यों में वितरण करते हुए अविद्याग्रस्त त्रस्त मानवता को उबारने के लिए अब वह आगे बढ़ा। परन्तु

इसके लिए न तो उसने कोई संप्रदाय या मठ ही प्रस्थापित किया, न लबी-चौडी वस्तुताएँ देने का ही मार्ग अपनाया और न दूर-दूर के देशों का भ्रमण-पर्यटन ही किया ! उसने तो जो कुछ भी कहा, वह मानो 'गागर में सागर' की कहावत चरितार्थ करते हुए एक सरल और अनूठे ढंग से केवल वार्तालाप के बीच छोटे-छोटे चुभते हुए उपाख्यानो और चुने हुए नीतिपरक उपदेश-वचनों की पुट देकर कहा। उसे सुनकर ऐसा प्रतीत होता था मानो उपनिषद्काल का कोई अरण्यवासी ऋषि ही फिर से इस युग में हमारे बीच उतर आया हो ! और उसके वचनानामुत् से भी अधिक जादू तो था उसके उस महान् व्यक्तित्व में, जो केवल एक ही बार की भेंट में किसी के भी जीवन को आध्यात्मिकता की ओर मोड़ देने के असाधारण सामर्थ्य से युक्त था। तो फिर क्या आश्चर्य था यदि साधारण जनो से लेकर समसामयिक बंगाल के केशवचन्द्र सेन जैसे महान् जननायक तक उसकी ओर आकृष्ट हुए, बिना न रह सके ! और विवेकानन्द जैसे उर्ध्वचेता मनीषि ने तो उसके नाम पर अपना सारा जीवन ही न्यूछावर कर ससार में उसका मदेश फैलाने के लिए गेरुआ तक धारण कर लिया !

नरेन्द्र से भेंट

श्री रामकृष्ण परमहंस के जीवन के अन्तिम बीस वर्ष उस महान् ज्ञान की कमाई को मनुष्य मात्र के हित के लिए वितरित करने ही में व्यतीत हुए, जिसे प्राप्त करने में उन्होंने अपनी आयु के पिछले तीस वर्ष खर्च किए थे। इस बीच सिर्फ एक बार फिर से छ-सात महीनों के लिए विश्राम के हेतु अपने जन्मस्थान कामारपुकुर में जाकर वह रहे। उसके बाद कुछ समय तक माथुर बाबू के साथ प्रयाग, काशी, मथुरा, वृन्दावन आदि तीर्थों की यात्रा भी उन्होंने की। इसके सिवा इस लम्बी अवधि भर वह दक्षिणेश्वर के अपने उस आश्रम ही में अधिकतर रहे, जहाँ रहकर उन्होंने इष्ट-सिद्धि प्राप्त की थी। इस अवधि में कलकत्ते के कई समसामयिक विशिष्ट व्यक्तियों—जैसे देवेन्द्रनाथ ठाकुर, केशवचन्द्र सेन, ईश्वरचन्द्र विद्यासागर, माइकेल मधुसूदन दत्त, बकिमचन्द्र चटर्जी आदि—से भेंट करने का अवसर उन्हें मिला। उनमें मुख्यतया केशव के साथ उनका सम्बन्ध कालान्तर में विशेष रूप से

प्रगाढ हो गया। परन्तु इन भेंट-मुलाकातो मे यदि सबसे महत्वपूर्ण कोई थी तो वह थी अनायास ही एक दिन अठारह-उत्तीस वर्ष के एक ऐसे बंगाली नौजवान से उनकी भेंट, जिसके साथ आगे चलकर युग-युग तक के लिए उनके नाम का गहरा गठबन्धन हो गया। उस युवक ने स्वयं भी इनकी उँगली पकड़ने का सौभाग्य पाकर अपने आपको युग-युगान्त के लिए अमर बना लिया। यह उद्-भट युवक था कलकत्ते के एक सुसंस्कृत बंगाली परिवार का वह अद्वितीय प्रतिभाशाली सपूत महामनस्वी नरेन्द्रनाथ दत्त, जो आगे चलकर 'विवेकानन्द' के नाम से प्रख्यात हो इस देश का एक प्रधान लोकनायक बना। उसने इस महान् सत की वाणी को हमारे घर-घर की वस्तु बनाकर इस युग मे एक महान् धार्मिक क्रांति प्रस्तुत कर दी।

साधना का मूर्तिमान् सुफल

इस महामनस्वी का किस प्रकार उद्भव और विकास हुआ, और किस प्रकार तर्क-वितर्क के तूफानी झझावात के चक्र से छुटकारा पाकर वह दक्षिणेश्वर के उस ऋषितुल्य तपस्वी के प्रभाव से श्रद्धामूलक ज्ञान के कल्याणमार्ग का पथिक बना एव अत मे उसके प्रमुख उत्तराधिकारी के रूप मे सुदूर योरप-अमेरिका तक इस देश के आत्मवाद का सदेश पहुँचाने मे सफल हुआ, इसका सम्पूर्ण विवरण तो आपको आगे चलकर अलग से उस महापुरुष का जीवन-परिचय पाते समय ही जानने को मिलेगा। अभी हाल तो यहाँ पर केवल इतना ही सूचित कर देना पर्याप्त होगा कि वह था मानों दक्षिणेश्वर के उस महासाधक की साधना का मूर्तिमान् सुफल! वह उस सत द्वारा आरम्भ किए गए अनुष्ठान की सम्पुर्ति कर उसके आदर्शों को निखिल मानवता के द्वार तक पहुँचानेवाला एक देवदूत था। उसने इस युग मे भारतीय धर्म और तत्त्वविचारों के क्षेत्र मे वही कार्य किया, जो बारह सौ वर्ष पूर्व आचार्य शंकर ने किया था। उसने भी इस देश के बिखरते हुए धर्म-मूर्तों को वेदात की महान् तत्त्व-वेदी पर लाकर एक कर दिया। और यह सब-कुछ था कामारपुकुर से आकर दक्षिणेश्वर मे आसन जमानेवाले उस पागल-जैसे दुबले-पतले ब्राह्मणके ही जादू का प्रताप, जिसका सारा जीवन ही मानों विविधता मे एकता का

सत्य खोज निकालने का एक जीता-जागता दीर्घ प्रयोग था!

महामिलन की वेला

सन् १८८४ ई० के लगभग रामकृष्ण के स्वास्थ्य मे उतार का एक चिन्ताजनक क्रम आरम्भ हुआ और अब किसी प्रकार भी वह सँभाले नहीं सँभाला जा सका। वस्तुतः चालीस-पचास साल के अनवरत तप की अग्नि मे तपकर उनका शरीर एक ऐसी असाधारण सवेदना से परिख्याप्त हो गया था कि वह सदैव धधकता ही रहता था! उनके जीवन का न जाने कितना अश तो समाधि की अवस्था ही मे बीता था। कहते है, एक बार वह लगातार छ महीने तक सज्ञाशून्य दशा मे पड़े रहे थे। और उनकी असामान्य सवेदनशीलता का तो यह हाल था कि प्रायः दूसरों को दुःख या वेदना से तड़पते देखकर वह स्वयं भी उसी तरह तड़पने लगते थे, मानों उन्हें भी वैसी ही पीड़ा हो रही हो। कहते है, निर्विकल्प समाधि की दशा मे चेतनावस्था मे आने के बाद, एक बार दो मल्लाहों को आपस मे क्रोधपूर्वक लड़ते-झगड़ते और मारपीट करने देखकर, वह इस प्रकार वेदना से चीत्कार करने लगे थे मानों वह मार उन्हीं पर पड़ रही हो। इसी तरह अपनी तीर्थयात्रा के समय देवघर के समीप अकाल-पीडित त्रस्त स्थाल नगरानियों को देखकर वह ऐसे विगलित हो उठे थे कि घण्टो उनके बीच बैठकर फूट-फूटकर रोए थे। इतनी गहराई के साथ अपने आपको निखिल विश्व की वेदना के साथ एक कर चुके थे वह।

तो फिर अपनी उस निरन्तर झकृत काया-रूपी वीणा के तारों को आखिर कब तक समेटकर रख सकते थे वह? उनका वह जीर्ण अस्थिपज्जर एक बार जो खड़खड़ाया, सो फिर लगातार विगड़ता ही चला गया। विशेषकर उनका गला तो इतना अधिक खराब हो गया कि उनके लिए अब खाना-पीना तक दूभर हो गया। किन्तु इस पर भी उन्होंने आस-पास जूटी रहनेवाली शिष्य-मंडली और ज्ञान-पिपासुओं की भीड़ को अपनी अमृत-वाणी से परितुष्ट करते रहने का क्रम नहीं छोड़ा। तब १८८५ ई० के अंतिम दिनों में उनकी हालत अत्यंत खराब होते देख दक्षिणेश्वर से हटाकर उन्हें समीप ही काशीपुर नामक एक बस्ती के एक बैंगले मे ले

जाया गया और वहाँ डॉक्टर महेन्द्रलाल सरकार की देखरेख में सावधानीपूर्वक उनका उपचार शुरू हुआ। परन्तु इससे भी कोई लाभ होते नहीं दिखाई दिया। सच तो यह था कि उनकी जीवन-गाथा अब साधना की दुर्गम घाटियों को पार कर अनन्त के महासागर में विलीन होने के लिए आखिरी मजिल पर आ पहुँची थी। अतः वह महामिलन की घड़ी भी आ पहुँची और १५ अगस्त, सन् १८८६ ई०, के दिन अपने महान् उत्तराधिकारी नरेन्द्र (विवेकानन्द) को जीवन की सारी कमाई का सारा एव बचे हुए कार्य का भार सौंपकर यह महामनस्वी अपना नश्वर शरीर त्याग सदा के लिए ब्रह्म में लीन हो गया !

शिक्षा का निचोड़

श्रीरामकृष्ण परमहंस की जीवन-कहानी, आधुनिक भारत के सर्वोच्च युग-प्रतिनिधि महात्मा गांधी के शब्दों में, 'धर्म को व्यवहार के क्षेत्र में उतारकर मूर्त रूप देने के महान् प्रयास की एक अमर गाथा है'। और इस महान् साधक की शिक्षा का सारा निचोड़ हमें विवेकानन्द द्वारा उल्लिखित उसके निम्न ज्वलन्त शब्दों में मिल जाता है—“आत्मोन्नति करो और निजी साधना द्वारा सत्य-निर्दर्शन का प्रयास करो।” उसका अपना सारा जीवन इसी महान् शिक्षा का मानो एक साकार उदाहरण था। उसने सभी धर्म-प्रणालियों द्वारा कल्याण-मार्ग के अन्वेषण-सवधी अपने सफल प्रयोगों द्वारा सदा के लिए यह सनातन सत्य प्रस्थापित कर दिया कि चाहे किसी भी धर्म या संप्रदाय को अपनाकर चलो, यदि तुम्हारी लगन में दृढ़ता और सच्चाई है तो निश्चय ही तुम प्रत्येक मार्ग से अततः उस एक ही परम लक्ष्य—ब्रह्म—के मन्त्रिकट पहुँच जाओगे।

यह अद्भुत महापुरुष सगुण और निर्गुण, एक और अनेक, साकार और निराकार सभी के समन्वय के लिए प्रयास करनेवाला एक असाधारण साधक था। वह एक ओर जहाँ काली की उस पाषाण-प्रतिमा ही में परम शक्ति का साक्षात्कार करने की क्षमता रखता था, जिसमें कि राममोहन और दयानन्द जैसे विचारक केवल विमूढ़ जनता की अधभावनाओं का एक प्रतिबिम्ब मात्र देखते थे, वहाँ साथ ही साथ वह निर्विकल्प समाधि की दुर्लभ अवस्था में बिरले ही साधकों के भाग्य

में आनेवाली उस परम अद्वैतानुभूति की भूमिका तक उठने के भी सामर्थ्य से युक्त था, जो कम से कम इस युग में तो इने-गिने ही महापुरुषों को उपलब्ध हुई है। वस्तुतः उसकी दृष्टि में असीम और सीम, सात और अनन्त में कोई भेद नहीं रह गया था। तभी तो अपनी उस निर्गुण निराकार ब्रह्म की वेदान्त-मूलक अद्वैत-साधना के साथ भगवती काली की अपनी जीवन-व्यापी सगुण उपासना के अद्भुत सम्मिश्रण का समाधान करते हुए वह कहा करता था—“जैसे तुम ‘ब्रह्म’ कहकर पुकारते हो, वही तो मेरी ‘काली’ है। वह आदिशक्ति आखिर उसके सिवा और दूसरी है कौन ?..... वस्तुतः जब मैं उस परम सत्ता को उस निश्चिष्ट रूप में देखता हूँ, जब कि वह न तो सर्जन, न पालन और न सहार ही करती है, तब मैं उसे पुकारता हूँ ‘ब्रह्म’, ‘पुरुष’ या ‘निर्गुण’ कहकर, और जब उसके उस स्वरूप की धारणा करता हूँ, जबकि वह मुझे सृष्टि के एकमात्र सर्जक, पालक और सहार करनेवाले के रूप में दिखाई देती है, तो उसे ही ‘शक्ति’, ‘माया’, ‘प्रकृति’ या ‘सगुण ब्रह्म’ के नाम से मैं पुकारने लगता हूँ। परन्तु इन दोनों में यथार्थ में भेद कहाँ है ? सच पुछो तो सगुण और निर्गुण दोनों उसी एक ही सत्ता के तो द्योतक हैं ! वे उसी तरह एक-दूसरे में अभिन्न हैं, जैसे दूध और उसकी सफेदी !”

सभी धर्मों की एकता

इसी प्रकार ईश्वर के सम्बन्ध में सभी धर्मों की मूलभूत विचार-समानता और एकता के प्रति सकेत करते हुए वह कहता था—“मैंने हिन्दू-धर्म, इस्लाम और ईसाइयत सभी के अनुसार साधना करने का प्रयास किया है..... और अतः मैं इसी नतीजे पर मैं पहुँचा हूँ कि यद्यपि सबकी पगडंडियाँ अलग-अलग हैं, फिर भी जिसके प्रति सब धर्म अपने-अपने कदम बढ़ा रहे हैं, वह ईश्वर तो एक ही है !..... मैं जिधर देखता हूँ, धर्म के नाम पर हिन्दू, मुसलमान, ब्राह्मण, वैष्णव आदि आपस में लड़ते-झगड़ते दिखाई देते हैं, किन्तु उनमें से कोई विचार करके देखे, तो यह जानते देर न लगेगी कि जिसे ‘कृष्ण’ कहकर पुकारा जाता है, वह उससे कदापि पृथक् नहीं है, जिसे कि ‘शिव’ कहकर अभिहित किया जाता है !

इसी तरह 'आदि शक्ति', 'ईसा', 'अल्लाह' भी उसके ही विविध नाम हैं—वही 'राम' हजारों नाम से पुकारा जाता है ! वस्तुतः एक ही सरोवर के कई घाट हैं, जिनमें से एक पर हिन्दू अपने घड़े में नीर भरकर उस पदार्थ को 'जल' के नाम से पुकारते हैं, तो दूसरे पर मुसलमान अपनी मशक में भरकर उसे कहते हैं 'पानी', और तीसरे पर ईसाई अपने पात्र में भरकर उसे 'वॉटर' का नाम देते हैं। पर क्या कोई यह कल्पना भी कर सकता है कि वह वस्तु 'वॉटर' या 'पानी' तो है, पर 'जल' नहीं ? कैसी हास्यास्पद बात होगी वह, यदि हम ऐसा सोचें ! सच तो यह है कि पदार्थ एक ही है, जिसके कि लिए हम सब उत्कटित हैं, केवल उसके नाम अनेक और भिन्न हैं—सिर्फ वातावरण, स्वभाव और नाम का ही भेद है, और कुछ अंतर नहीं। अतः प्रत्येक को अपनी-अपनी राह चलने दो। यदि वह अपने दिल की तह में सच्चाई के साथ ईश्वर को चाहता है, तो अवश्य ही उस प्रभु को पाने में सफलीभूत होगा और उसका कल्याण होगा।"

इस महान् तथ्य का उद्घाटन कर इस महापुरुष ने भारतीय धर्म के परम्परागत ढाँचे को ज्यों-का-न्यों कायम रखते हुए ही पिछले दिनों में ढीले पड़ गए हमारे सांस्कृतिक तारों को फिर से धर्म के बंधन में कस दिया। उसने उन्हें एक नूतन स्वर-लहरी से अनुप्राणित कर दिया। उसने विश्वास की ओर कदम बढ़ाने के बजाय अपनी परंपरागत दीवारों पर ही इस राष्ट्र की नवीन इमारत को उठाने के लिए हमें एक नई प्रेरणा दी। इस दृष्टि से वह अपने पूर्वगामी लोकनेता राममाहनाराय और दयानन्द दोनों ही से कहीं अधिक ऊँचा उठ गया। संभवतः इसीलिए वह उनसे कहीं अधिक लोकप्रिय और पूजनीय भी बन गया।

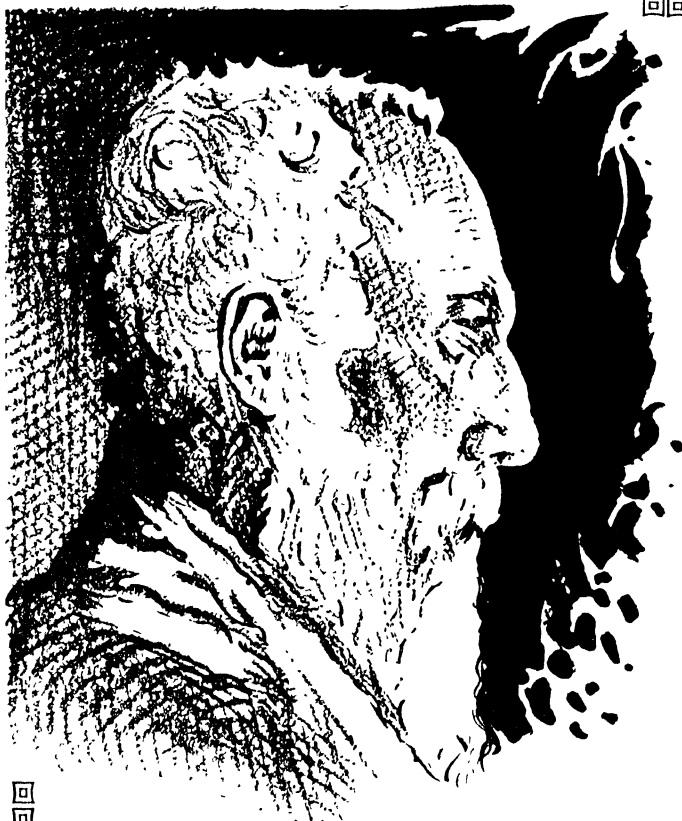
उपनिषदों का जीता-जागता भाष्य

श्रीरामकृष्ण की स्तुति में उनके महान् उत्तराधिकारी विवेकानन्द की निम्न ज्वलन्त प्रशस्ति से अधिक और क्या कहा जा सकता है, जिसमें कि संक्षेप में पूर्ण रूप से इस देवोपम युगपुरुष का यथार्थ चित्रण हमें मिल जाता है—“समय आ पहुँचा था एक ऐसे महामनीषि के अवतीर्ण होने के लिए, जो कि अपने व्यक्तित्व में एक ही साथ आचार्य शंकर के-से अद्भुत प्रज्ञाबुद्धिसंपन्न मस्तिष्क और महा-प्रभु चेतन्य के-से विशाल भावविभोर हृदय के

समागम का अद्वितीय उदाहरण प्रस्तुत कर सके,.... जो कि प्रत्येक मत-मतान्तर के मूल में एक ही धर्म-भावना तथा एक ही परमेश्वर का निदर्शन करते हुए चराचर में उस जगन्नियता ही की झाँकी देख सके, जिसका हृदय इस ससार के सभी दीन-हीन पददलित प्राणियों के लिए विगलित हो आँसुओं की नदियाँ बहा सके !... और श्रीरामकृष्ण के रूप में वह अतः हमारे सामने आ प्रकट हुआ। इस महापुरुष का केवल जीवन ही उसकी शिक्षा से हजार गुना अधिक महत्त्वपूर्ण था। वह था उपनिषदों का मानो एक जीता-जागता भाष्य !... वह जीवनभर स्त्री और पुरुष, गरीब और अमीर, अपढ़ और पंडित, ब्राह्मण और चाण्डाल, आदि के बीच की भेदभाव की दीवारों को मिटाने के लिए ही लयडटा रहा !... वह पौर्वात्य और पाश्चात्य संस्कृतियों के समन्वय का स्वप्न सार्थक करने के लिए ही इस युग में हमारे बीच उतरा था। सचमुच ही, विगत कई शताब्दियों से धार्मिक एकता की सिद्धि करने-वाला इतना महान् और अद्भुत दूसरा कोई शिक्षक भारत में पैदा नहीं हुआ।"

‘श्रीरामकृष्णवचनामृत’

रामकृष्ण ने न तो कभी कोई पुस्तकें ही लिखी, और न औरों की तरह पंडिताई ही का दावा करने का उन्होंने कभी प्रयास किया। फिर भी साधारण बातचीत ही के बीच उन्होंने जब-तब जो कुछ भी कहा, वह अध्यात्म और दर्शन के गहन तत्त्वज्ञान में पगा हुआ इस देश के लिए ज्ञान का एक अमूल्य वरदान साबित हुआ। उनके उन अमृत-वचनों की जो सबसे अनमोल विशेषता थी, वह यह थी कि वे कोरी दिमागी उधेंडबुन या बुद्धि की ऊहापोह की थोथी उपज न थे। वे तो साधना की निर्धम अग्नि में से उठे हुए जगमगाते स्फुल्लिंगों जैसे थे। यह हमारे लिए एक परम सौभाग्य की बात है कि उनके शिष्यों ने उनके मुखारविन्द से समय-समय पर बरसनेवाले उन अमृत-बिन्दुओं का संकलन कर ‘श्रीरामकृष्णवचनामृत’ नामक एक विशद संग्रह के रूप में प्रस्तुत कर दिया है। श्रीरामकृष्ण की सद्शिक्षा का लाभ पाने के लिए उनकी जीवन-कथा के साथ-साथ उनकी वाणी को इस दिव्य आलेख का भी अनुशीलन अत्यावश्यक है।



आधुनिक
भारत

के निर्माण-यज्ञ
के लिए जिन-
जिन महापुरुषों
ने आरम्भिक

समिधा जुटाने का कार्य किया है, उसीसवीं शताब्दी के बंगाल के महान् समाजधर्मी लोकनायक महर्षि देवेन्द्रनाथ ठाकुर भी उन्हीं में से थे। देवेन्द्रनाथ राममोहनराय के बाद ब्राह्म समाज की पतवार संभालनेवाले बंगाल के एक प्रधान धर्मनेता और अपने युग की सांस्कृतिक हलचल के एक प्रखर रूप-निर्माता थे। यदि राममोहन ने ब्राह्म समाज की नींव डालकर इस युग में सुधार की आवाज बुलन्द करने-वाली सर्वप्रथम जनवेदी प्रस्तुत की थी, तो देवेन्द्र ने

देवेन्द्रनाथ ठाकुर

उक्त धर्मवेदी को एक सु-संगठित सार्वजनिक हित-कारी संस्था का रूप देकर उसे देश के सर्वाङ्गीण अभ्युत्थान के एक प्रमुख पीठस्थान में परिणत कर दिया था। यह उनकी तथा उनके शिष्यों की प्रतिभा, कार्यक्षमता और उत्कृष्ट लगन का ही सुफल था कि बंगाल की उस रूढ़िप्रस्त भूमि में धार्मिक और सामाजिक सुधार का राम-मोहनराय द्वारा बोया गया बीज अल्पकाल ही में अकु-रित हो पृष्पित-पल्लवित हो सका। तो फिर बाइए, आज के युगान्तर की आर-भिक पृष्ठभूमि के दिग्दर्शन के इस क्रम में अन्य विभू-तियों के साथ-साथ ब्राह्म समाज के इस महामनस्वी को भी श्रद्धा के दो पुष्प अर्पित कर उसकी महत्त्व-पूर्ण जीवनलीला की एक झाँकी लेते चले, जो कि न केवल अपनी हिमधवल

केगपाश युक्त बाह्याकृति के द्वारा ही प्रत्युत अपने विचारों की गहनगभीर क्रान्त-दर्शिता,

आध्यात्मिक प्रतिभा एवं चरित्र की ऊँचाई की दृष्टि से भी सचमुच ही उपनिषद्काल के तत्त्वचिन्तकों की याद दिलानेवाला एक पहुँचा हुआ ऋषि-सा प्रतीत होता था।

बाल्यावस्था ही से परमार्थ की ओर भुकाव

देवेन्द्रनाथ का जन्म मई, सन् १८१७ ई०, में कल-कत्ते के उस प्रख्यात ठाकुर-परिवार में हुआ था, जो आगे चलकर रवीन्द्र और अबनीन्द्र जैसे रत्नों की

भेट दे बगाल की सांस्कृतिक हलचल का एक प्रमुख केन्द्रस्थान-सा बन गया और प्रयाग के सुप्रसिद्ध नेहरू-परिवार की भोंति जिसे हमारे आधुनिक इतिहास में सदा के लिए एक गौरव का स्थान पाने का सौभाग्य प्राप्त हो सका। उनके पिता द्वारकानाथ राममोहनराय के घनिष्ट मित्रों में से थे। अपने राजसी ठाटबाट तथा खर्चीलेपन के कारण वह 'प्रिस द्वारकानाथ' के नाम से मशहूर थे। ऐसे अमीर घराने में जन्म लेकर देवेन्द्र के लिए विलास-वैभव के पथ पर हलक पड़ना आसान था। परन्तु आश्चर्य की बात थी कि वचपन ही से स्वाभाविक रूप से उनका झुकाव आध्यात्मिक मनन-चिन्तन और परमार्थ-साधन की ओर ही अधिक रहा। फलतः सासारिक विषय-मुख के प्रति उदासीनता का भाव रखते हुए आरंभ ही में उन्होंने आत्मोपलब्धि के कटकाकीर्ण मार्ग पर ही अपना कदम बढ़ाया।

उनकी इस प्रवृत्ति में बढ़ावा देने में सबसे अधिक सहायक हुई उनकी वृद्धा दादी (द्वारकानाथ की माँ), जो निरंतर व्रत-अनुष्ठान और भजन-कीर्तन में रत रहनेवाली पुराने ढंग की एक कट्टर धर्म-परायण स्त्री थी। उसकी मृत्यु के समय देवेन्द्र-नाथ को बंसा ही आत्मानुभव हुआ, जैसा कि उपनिषदों में वर्णित ऋषिकुमार नचिकेता को यम का साक्षात्कार करते समय हुआ था। उनके मन में वैराग्य का एक प्रबल भाव जग गया। तभी से भौतिक वस्तुओं की विनश्वरता तथा सासारिक ऐश्वर्य-सुख की अन्तिम निस्सारता की गहरी छाप उनके मानस-पटल पर अंकित हो गई। फलतः अपने अतस्तल में टिमटिमाती हुई आध्यात्मिकता की उस लौ ही में अब उन्हें आशा की एकमात्र ज्योति दिखाई पड़ने लगी, जिसके प्रति संकेत करते हुए उपनिषदकालीन वालक नचिकेता ने यम द्वारा उसके समक्ष रखे गए धन-वैभव, स्त्री-पुत्रादिक के लोभ को ठुकराते हुए कहा था—'नान्यो वरस्तुल्य एतस्य कश्चित्,' अर्थात् इसकी समानता का दूसरा कोई वरदान नहीं है।*

‘तत्त्वबोधिनी सभा’

इसी प्रकार कुछ ही समय बाद अनायास ही एक दिन किसी फटी-पुरानी पुस्तक के यहाँ से वहाँ उड़ते हुए एक पत्रे द्वारा ईशोपनिषद् की

* देखो कठोपनिषद् (१।२२)।

आरंभिक पक्तियों की गहन दार्शनिकता का परिचय पाकर, प्राचीन भारतीय धर्म और ज्ञान के प्रति उनके मन में ऐसी प्रगाढ़ आस्था का भाव जम गया कि अतीत के गर्भ में छिपी हुई उस अगाध ज्ञान-राशि को सामने लाकर अपने युग की आँखें खोलने के लिए उनकी कामना बलवती हो उठी। इसी आकांक्षा को लेकर सन् १८३९ ई० में कुछ मित्रों के सहयोग से कलकत्ते में ‘तत्त्वबोधिनी सभा’ के नाम से एक सुधारक सार्वजनिक संस्था की प्रस्थापना उन्होंने की। उसमें महीने में एक बार उपासना के अतिरिक्त आध्यात्मिक और सामाजिक विषयों पर भाषण, वाद-विवाद और लेख-पठन आदि का नियमित कार्यक्रम होता था।

सांस्कृतिक पुनरुत्थान का आन्दोलन

साथ ही वर्ष भर बाद उसी के तत्त्वावधान में ‘तत्त्वबोधिनी पत्रिका’ नामक एक मासिक पत्र भी उन्होंने निकालना शुरू किया। उसका संपादन करते थे बंगला के एक उदीयमान साहित्यकार बाबू अक्षयकुमार दत्त और उसके लेखक-मंडल में प० ईश्वरचन्द्र विद्यासागर, डा० राजेन्द्रलाल मित्र, बाबू राजनारायण बोस आदि समसामयिक बंगाल के गण्यमाय्य विद्वान् भी सम्मिलित थे।

इस पत्र ने एक ओर स्त्री-शिक्षा, विधवा-विवाह आदि सामाजिक सुधारों के पक्ष में और मद्यपान, बहुविवाह आदि कुरीतियों के विपक्ष में जमकर आन्दोलन करना शुरू किया। दूसरी ओर, आज से सौ वर्ष पूर्व ही, जब कि मैक्समूलर अभी अधिकार ही में था, धारावाही रूप से पहले-पहल ऋग्वेद का अनुवाद प्रकाशित करने की ओर कदम बढ़ाकर इस देश की प्राचीन ज्ञाननिधि के प्रति ध्यान आकृष्ट करने तथा पूर्वकालिक इतिहास की गवेषणापूर्ण समीक्षा की परिपाटी चलाने में भी मानो एक अग्रदूत का काम किया। इन आरंभिक प्रयासों द्वारा देवेन्द्रनाथ ने प्रान्त की सांस्कृतिक, धार्मिक और सामाजिक जागृति को आगे बढ़ाने में अमूल्य योग दिया। फलतः उनके तथा अक्षयकुमार दत्त के नेतृत्व में बुद्धिवाद की नींव पर स्थापित एक प्रबल प्रगतिशील आन्दोलन बंगाल के युवक-समाज में उठ खड़ा हुआ।

* वे पक्तियाँ हैं:—‘ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किञ्चित् जगत्यां जगत्, तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्यस्विद्धनम्।’

‘ब्राह्म समाज’ के आँगन में

इसी बीच सन् १८४२ ई० के लगभग उन्होंने अपना हाथ बढ़ाया राममोहनराय की मृत्यु के बाद से पूरे दस वर्षों से शिथिल पड़े हुए सुप्रसिद्ध ‘ब्राह्म समाज’ की ओर भी। उसके साथ अपने पिता की प्रगाढ़ सहानुभूति के कारण वचन ही से उनका गाढ़ा सबंध प्रस्थापित हो गया था। उसके महान् प्रतिष्ठापक के प्रति भी उनके मन में कोई कम श्रद्धा और सम्मान का भाव न था। उन्हें वह अनमोल क्षण भुलाए न भूलता था, जबकि राम-मोहन ने विलायत के लिए रवाना होते समय उस छोटी-सी उम्र ही में अत्यन्त अनुरागपूर्वक हाथ मिलाकर उनके प्रति अपना प्रगाढ़ स्नेह प्रदर्शित किया था। तब से मन में लगातार उन्हें यही भान बना हुआ था, मानो उस विदाई के प्रेम-प्रदर्शन ही के रूप में अपने जीवन-कार्य की मशाल सौंपते हुए, उस महान् राष्ट्र-निर्माता ने उनके कंधों पर देश के नवजागरण की ज्योति जगाए रखने का उत्तरदायित्व-पूर्ण भार रख दिया था। कहने की आवश्यकता नहीं कि देवेन्द्र के सस्पर्श में आने ही ‘समाज’ फिर से नवजीवन की लहर से उत्फुल्लित हो एकबारगी ही जगमगा-सा उठा। इस प्रकार अल्पकाल ही में वह पूर्वीय भारत की सांस्कृतिक हलचल का अपने युग का सबसे महान् पीठस्थान बन गया। उन्होंने आते ही उसमें अपनी नवसंस्थापित ‘तत्त्वबोधिनी सभा’ और उसकी मुखपत्रिका को भी समिलित कर दिया। तब एक के बाद एक उसमें सुधारों का ऐसा ताँता-सा बाँध दिया कि वह शीघ्र ही एक माप्ताहिक प्रार्थना-लय की स्थिति से ऊपर उठकर सार्वजनिक उत्थान के एक सुसंगठित मंच में परिणत हो गया।

उदाहरण के लिए, उपासना के समय शूद्रों को वेद-पाठ से वंचित रखने की ‘समाज’ की अब तक की प्रथा को उसके मूल आदर्श के विरुद्ध घोषित कर, उन्होंने अब खुले आम वेद-पठन की प्रणाली जारी कर दी। साथ ही उपासकों के लिए उपनिषदों के कुछ अंश एवं महानिर्वाणतन्त्र के पंचरत्नस्तोत्र आदि के सकलन के रूप में एक छोटी-सी निर्देश-पुस्तिका प्रस्तुत कर, उन्होंने ब्राह्म धर्म की विधिवत् दीक्षा और उपासना-पद्धति का एक सुनिश्चित विधान भी तैयार कर दिया। उसके अनुसार कई युवकों के साथ स्वयं अपना भी दीक्षा-संस्कार करा के उन्होंने ‘समाज’

को सदा के लिए एक सुदृढ़ संगठन के ढाँचे में कस दिया। इसी बीच उसके भावी आचार्यों, प्रचारकों आदि की तैयारी और शिक्षण के लिए ‘तत्त्वबोधिनी पाठशाला’ के नाम से एक विद्यालय भी उन्होंने प्रस्थापित किया, जिसमें उपनिषदों के तत्त्वज्ञान का गहन अध्ययन किया जाने लगा। यही नहीं, जब उन्हें यह भान हुआ कि उपनिषदों के यथार्थ ज्ञान के लिए वैदिक संहिताओं और ब्राह्मण-ग्रंथों की भी जानकारी होना नितान्त आवश्यक है, तो तुरन्त ही चार चुने हुए विद्यार्थियों को वेद पढ़ने के लिए उन्होंने काशी भेजा—ऐसे अदम्य उत्साही और दूरदर्शी लोकनायक थे वह ! और यह सब उस जमाने की बात है, जब दयानन्द अभी वेदाध्ययन के लिए अपने गुरु विरजानन्द के पास भी नहीं पहुँच पाए थे।

इन्हीं दिनों विलायत में अपने पिता—प्रिन्स द्वारकानाथ—की मृत्यु के कारण देवेन्द्र के सामने एक असामान्य पारिवारिक संकट की परिस्थिति आ खड़ी हुई। उधर एक ओर तो अपने धार्मिक सिद्धान्तों की वजह से पिता की श्राद्ध-क्रिया में भाग न लेने के फलस्वरूप उन्हें अपने कट्टरपथी स्वजनों का कोपभाजन बनना पड़ा। दूसरी ओर पिता द्वारा छोड़े गए लगभग एक करोड़ रुपए के भारी कर्ज के निपटारे के लिए अपनी सारी जायदाद को उन्हें कर्जदारों के हाथ रहन रख देना पड़ा। परन्तु इस विपम परीक्षा के समय भी उन्होंने अपने घूटने नहीं टेके। उन्होंने धीरे-धीरे न केवल उस भारी ऋण का ही एक-एक पैसा अदा कर दिया, बल्कि पिता द्वारा कलकत्ते की एक धर्म-संस्था को दान के रूप में अर्पित एक लाख रुपए की एक बकाया रकम को भी सूदसहित चूकाकर उन्होंने अपने चरित्रबल और सत्यनिष्ठा का एक प्रखर उदाहरण ससार के सामने प्रस्तुत कर दिया।

पारिवारिक संकट

इसी अवधि में १८४५ ई० के लगभग, डा० एर्नेक्जैण्डर डफ नामक एक ईसाई मिशनरी के हाथों उमेशचन्द्र सरकार नामक एक हिन्दू युवक के पत्नीसहित ईसाई धर्म में परिवर्तित किए जाने की घटना को लेकर, कलकत्ते के हिन्दू समाज में एक जबर्दस्त हलचल उठ खड़ी हुई। इस आन्दोलन में कट्टरपथी और सुधारवादी दोनों ही वर्ग के लोगो ने

मिलकर विदेशियों द्वारा इस देश के धर्मक्षेत्र पर होनेवाले अनुचित आक्रमणों का सामना करने के लिए मोर्चा बाँधने का दृढ़ सकल्प किया। इस कार्य के लिए तीस हजार रुपए का चंदा इकट्ठा हुआ और 'हिन्दू हितार्थी विद्यालय' नामक एक स्कूल प्रस्थापित किया गया, ताकि हिन्दू विद्यार्थी ईसाई मिशनरियों के स्कूल-कॉलेजों के हथकण्डों से बचकर शिक्षा पा सकें। कहने की आवश्यकता नहीं कि देवेन्द्रनाथ ही इस आन्दोलन के प्रधान सूत्रधार थे।

वेदों की आप्तता-संबंधी विवाद

इसी मिलसिले में डफ द्वारा किए गए आक्षेपों के प्रत्युत्तर में 'तत्त्वबोधिनी पत्रिका' में प्रकाशित अपने एक वक्तव्य द्वारा जब उन्होंने परोक्ष रूप से वेदों की आप्तता का समर्थन किया, तो स्वतः ब्राह्म समाज ही के अतर्गत मतभेदमूचक एक कटु विवाद उठ खड़ा हुआ। इस विवाद में अक्षयकुमार दत्त के नेतृत्व में एक उग्र दल ने इस बात पर विशेष रूप से जोर देना शुरू किया कि किसी भी धर्म-ग्रंथ को, चाहे वह कितना भी मान्य क्यों न हो, अलौकिक या आप्त मानकर बुद्धिवाद की उम नींव को कदापि कमजोर न बनाया जाय, जिस पर कि 'समाज' की सारी भित्ति ही प्रस्थापित थी। इस विवाद को बढ़ते देख अत मे देवेन्द्रनाथ को अपने मतव्य में सशोधन कर यह उद्घोषित करना पड़ा कि वेद और उपनिषद् इसलिए मान्य नहीं है कि वे स्वयंसिद्ध ईश्वरप्रदत्त ग्रंथ है, प्रत्युत केवल इसीलिए कि वे हमारी आन्तरिक मद्सद्विवेकबुद्धि की निगाह में ऊँचे जँचते हैं। साथ ही अब 'समाज' की एक सुनिश्चित धार्मिक आधार-शिला निर्धारित कर देने की गंभीर आवश्यकता का अनुभव करते हुए, 'ब्राह्म धर्म' नामक अपनी एक छोटी-सी कृति द्वारा उन्होंने इस सस्था के धर्म-सिद्धान्तों का भी मोटे तौर से स्पष्टीकरण कर दिया। उसका सारांश इसी समय उनके द्वारा निर्धारित निम्न चार मूलगत नियमों में हमें संक्षेप में मिल जाता है:—

१. आरंभ में उस परमेश्वर के अतिरिक्त और कुछ भी न था—उसी ने इस निखिल विश्व की रचना की।
२. केवल वही एक सच्चिदानन्द शक्तिस्वरूप परमात्मा है, जो शाश्वत, सर्वव्यापी और अद्वितीय है।

३. उसी की उपासना में हमारी एहलौकिक और पारलौकिक मुक्ति निहित है।

४. उसकी भक्ति करना और उसे जो कुछ प्रिय हो, उसी कार्य को करना ही उसकी सच्ची उपासना है।

इसके कुछ ही समय बाद सार्वजनिक जीवन के कोलाहल से दूर हटकर एकान्त चिन्तन और ईश्वराराधन ही में लीन रहने के अभिप्राय से १८५६ ई० में वह हिमालय चले गए। वहाँ प्रकृति के सान्निध्य में अनन्त तत्त्व की मर्मर मगीत-ध्वनि के गोपनीय रहस्य का ज्ञान प्राप्त करने का प्रयास करते हुए, बहुत दिनों तक मृत्यु से परे के उस अमृततत्त्व की खोज में वह लगे रहे, जिसकी टोह में अपने-अपने ढंग से समसामयिक भारत के दो और महाप्राण युगपुरुष—दयानन्द और रामकृष्ण परमहंस—भी उसी समय अन्यत्र सलग्न थे।

अत मे जब उस एकान्त साधना द्वारा आत्मबोध प्राप्त कर उन्होंने परम ज्ञान का प्रकाश पा लिया, तब अपनी उस आध्यात्मिक कमाई द्वारा देश की हितसाधना में योग देने के लिए, दो वर्ष बाद वह फिर 'समाज' की वेदी पर आ खड़े हुए। अब अपने जोशीले धर्म-प्रवचनों की एक झड़ी-सी बाँधकर उन्होंने ऐसे अपूर्व क्रान्तदर्शी विचारों का उद्घाटन करना शुरू किया कि सैकड़ों की सख्या में लोग आ-आकर उनकी वाणी का प्रामाद पा अपने आपको कृतार्थ मानने लगे। यहाँ तक कि अनेक उत्साही युवकों ने तो अपना सारा जीवन ही उनके द्वारा निर्दिष्ट सेवा-पथ पर निछावर कर देने का व्रत ले लिया और अपने आपको 'ब्राह्म समाज' की वेदी पर अर्पित कर दिया !

देवेन्द्र-केशव की अनूठी जोड़ी

इन्ही सेवाव्रती नवयुवकों में था कलकत्ते की उगती हुए पीढ़ी के भित्तिज पर मानो प्रभातकालीन शुक्र तारे की तरह अभी-अभी चमक उठनेवाला एक अप्रतिम प्रतिभाशाली तरुण केशवचन्द्र सेन भी। वह अनायास ही एक दिन राजनारायण ब्रांस लिखित ब्राह्म धर्म सवधी एक ट्रेक्ट पढ़कर 'समाज' की ओर गहराई के साथ आकर्षित हो गया था। उसी क्षण से अपने आपको उसके धर्म-मन्त्र पर उत्सर्गित कर, उसके आँगन में निखिल मानवता का आह्वान करने का महाव्रत उसने ले

लिया था। कहना न होगा कि उसे पाकर कालान्तर में न केवल ब्राह्म समाज ही बल्कि सारे बंगाल का मुख उजागर हो गया। इस तेजस्वी युवक के सबंध में विशेष परिचय तो आगे चलकर प्रस्तुत किए गए उसके पृथक् जीवन-चित्र में ही आपको मिलेगा। यहाँ तो केवल यही कहकर उसकी अप्रतिम प्रतिभा की ओर इंगित कर देना पर्याप्त होगा कि यद्यपि वह था अभी केवल अठारह-उन्नीस वर्ष का एक अपरिपक्व नौजवान ही, फिर भी कलकत्ते के समाज-सुधार के क्षेत्र में 'ब्रिटिश इंडिया सोसायटी' नामक एक साहित्य-गोष्ठी, 'गुडविल फ्रेटनिटी' नामक एक धार्मिक भ्रातृमंडली और कोलूटोला की एक रात्रि-पाठशाला के संस्थापक तथा संचालक के रूप में इस छोटी-सी उम्र में भी वह काफी नाम कमा चुका था। वह अंग्रेजी तथा बंगला दोनों ही भाषाओं में ऐसे धाराप्रवाह के साथ भाषण देता था कि सुननेवाले दंग रह जाते थे ! उसने कलकत्ते के मुप्रसिद्ध 'हिन्दू कॉलेज' में शिक्षा पाई थी। वहाँ से निकलने पर बाद में पाश्चात्य दर्शनशास्त्र तथा ईसाई धर्म का भी विशेष रूप से उसने अध्ययन किया था, जिसका प्रभाव आजीवन उस पर बना रहा।

ऐसे प्रतिभावान् उत्साही कार्यकर्ता को पाकर यदि देवेन्द्रनाथ जैसे रत्नपारखी लोकनेता का हृदय खिल उठा हो तो उसमें आश्चर्य ही क्या था ! वह उसके प्रति इतने अधिक आकर्षित हो गए कि सन् १८५९ ई० की अपनी लका-यात्रा में उसे भी अपने साथ लेने गए। वहाँ से लौटते ही उन दोनों के बीच पारस्परिक स्नेह का एक ऐसा प्रगाढ़ सबंध प्रस्थापित हो गया, जो बाद में विचारों में गहन मतभेद हो जाने पर भी जीवनभर कभी ढीला नहीं पड़ पाया।

‘ब्राह्म विद्यालय’ और ‘इंडियन मिरर’

उसी वर्ष ‘समाज’ के तत्कालीन प्रधान मंत्री प० ईश्वरचन्द्र विद्यासागर के त्यागपत्र दे देने पर उसकी नैया को खेने का भार आ पड़ा देवेन्द्र और केशव के संयुक्त कंधों पर ही। इस पटपरिवर्तन के साथ ही ब्राह्म समाज के इतिहास में एक नया अध्याय जुड़ गया। अब देवेन्द्रनाथ के गभीर प्रवचनों के साथ-साथ केशव की ओजस्वी वाणी और प्रवर लेखनी द्वारा उसके मंच पर से क्रमशः

धार्मिक और सामाजिक विषयों पर सुधारवादी सभाषणों और लेखो-ट्रेक्टों की एक बौद्धार-सी शुरू हो गई। फलतः थोड़े ही समय में बंगाल के सांस्कृतिक क्षेत्र में एक तूफान-सा आ गया और सभी कोई आशा और उमंग की निगाह से प्रकाश के लिए अब ‘समाज’ ही की ओर देखने लगे। इन्हीं दिनों ‘समाज’ के तत्त्वावधान में मुप्रसिद्ध ‘ब्राह्म विद्यालय’ की भी प्रस्थापना हो चुकी थी। वहाँ देवेन्द्रनाथ बंगला में और केशवचन्द्र अंग्रेजी में नियमित रूप से भाषण देकर भावी कार्यकर्ताओं को ब्राह्म धर्म की शिक्षा तथा सुधार की भावना से अभिमंत्रित करने का महत्त्वपूर्ण कार्य करते थे। साथ ही देवेन्द्र की आर्थिक सहायता द्वारा केशव के सपादकत्व में ‘इंडियन मिरर’ नामक मुप्रसिद्ध अंग्रेजी पत्र भी कलकत्ते से निकलने लगा था। यह पत्र कालान्तर में पाक्षिक से साप्ताहिक और अंत में एक दैनिक पत्र बन गया। उसने उन दिनों की मर्यादणीय जागृति को बढ़ावा देने में मूल्यवान् योग दिया।

तब १३ अप्रैल, १८६२ ई०, के दिन बड़ी धूम-धाम के साथ देवेन्द्रनाथ ने युवक केशवचन्द्र सेन को ‘ब्रह्मानन्द’ की उपाधि से विभूषित कर उन्हें ‘समाज’ के आचार्य के पद पर प्रतिष्ठित कर दिया। फलतः अब पहले से भी अधिक जोर-शोर के साथ ‘समाज’ की वेदी पर से ब्राह्म धर्म के प्रचार और सुधारों के प्रवर्तन का कार्य किया जाने लगा। इसके शीघ्र ही बाद सन् १८६४ ई० में केशवचन्द्र ने मद्रास, कालीकट, बंबई, पुना आदि स्थानों की एक विशद प्रचार-यात्रा की। इससे देश में अन्यत्र भी अनेक सुधारवादी ब्राह्म मंदिरों की प्रस्थापना हो गई और बंगाल की सीमाओं को लाँघकर अब ब्राह्म समाज एक निखिल भारतवर्षीय सस्था बन गया।

केशव से मतभेद

किन्तु एक-दूसरे के प्रति असामान्य पारस्परिक स्नेह और गभीर श्रद्धा का भाव रखने तथा ‘ब्राह्म समाज’ की उन्नति एवं वृद्धि के लिए समान रूप से उत्कण्ठित होने पर भी देवेन्द्र और केशव के धर्म और समाज-सुधार संबंधी विचारों तथा नीति में गहन अंतर था। कारण, देवेन्द्र थे मूलतः प्राचीन भारतीय धर्म और सांस्कृतिक परंपरा के ही एक अनन्य उपासक। वह उस परंपरा को उलट देने के

लिए कदापि तैयार न होनेवाले एक नरम नीतिधर्मी सुधारक थे। उग्र केशव था इसके प्रतिकूल गहराई के साथ ईसाइयत एवं पाश्चात्य विचारों के रंग में रंगा हुआ एक उग्र सुधारवादी, जो कि हिन्दू धर्म तथा समाज के ढाँचे को क्रांतिकारी पद्धति से समूल बदलकर अपने अतस्तल के आदर्शानुसार उसका नवनिर्माण करने के लिए उतावला हो रहा था। उनमें से एक भारतीय समाज को पुनः अतीत की ओर वापस मोड़कर उपनिषद्कालीन सस्कृति के आगम में लौटा ले जाने का स्वप्न देखता था। दूसरा अपनी प्राचीन रूढ़ियों और परंपराओं की गृहलाओं तथा पूर्व-पश्चिम के भेद-भाव की दीवार को तोड़कर निखिल विश्व-धर्म के क्षेत्र में उसे ला खड़ा कर देना चाहता था। वह तो अपने प्राचीन ऋषि-मुनियों के साथ-साथ ईसा मसीह के अलौकिक व्यक्तित्व तथा वेद-उपनिषदों के तत्त्वज्ञान की जोड़ में बाइबिल की उच्च शिक्षाओं की ज्योति का भी समान रूप से हमारे हृदय में प्रतिष्ठित देखने के लिए उत्कण्ठित था। तो फिर कब तक उन दोनों का साथ निभ सकता था ?

फूट का बीजारोपण

फिर यदि एक-दूसरे को मान्यता देते हुए किसी हद तक वे साथ-साथ चलते भी रहते, जैसा कि कई दिनों तक होता रहा, तो 'समाज' के अन्य सदस्यों से इस प्रकार की आशा भला क्योंकर की जा सकती थी ? वस्तुतः अब भी 'समाज' के अतर्गत बाहुल्य था ऐसे ही लोगों का, जो कि किसी भी प्रकार के उग्र परिवर्तन को कदापि स्वीकार करने को तैयार नहीं थे। उनकी निगाह में तो केशव जैसे एक अब्राहमण तथा स्पष्टतः ईसाइयत की आर झुके हुए व्यक्ति का आचार्य-पद पर प्रतिष्ठित किया जाना ही एक कॉटे की तरह गडनेवाली बात थी। वे यदि चुप थे तो केवल देवेन्द्रनाथ के व्यक्तिगत दबाव से ही। अन्यथा उनके मन तो इतने अधिक खट्टे हो चुके थे कि कई ने तो इस नवीन 'आचार्य' के तत्त्वावधान में होनेवाली 'समाज' की नियमित उपासनाओं तक में सम्मिलित होना छोड़ दिया था। तो फिर क्या आश्चर्य था कि इस घरेलू असंतोष और मनमुटाव के वातावरण के कारण शीघ्र ही 'समाज' के आगम में गहराई के साथ फूट के बीजों को अपनी जड़ जमाने का मौका मिल गया। फलतः भीतर ही भीतर एक-

दूसरे के विरोधी दो विभिन्न दल अब उसकी चहार-दीवारी में पनपने लगे। उनमें से एक, जो कि पुराने बुजुर्गों का दल था, केशव और उसकी उग्र सुधारवादिता के एकदम खिलाफ था। दूसरा, जिसमें कि जोशीले नौजवानों का ही बोलबाला था, हर परिस्थिति में अपने इस क्रांतिकारी तरुण नेता के ही साथ-साथ कदम बढ़ाने पर तुला-सा बैठता था।

इस गभीर मतभेद के वायुमंडल में बेचारे देवेन्द्रनाथ की स्थिति कितनी नाजुक रही होगी, इसकी कल्पना की जा सकती है। कारण, एक ओर तो वह 'समाज' के पुराने सदस्यों को संतुष्ट रखने तथा उसकी वेदी को विच्छिन्न होने से बचाने के लिए चिन्तित थे। दूसरी ओर केशवचन्द्र के प्रति अपनी अगाध ममता और उस असाधारण युवक की प्रतिभा तथा उसके लक्ष्य की ऊँचाई के भी वह कायल थे। वस्तुतः हृदय में भारतीय परंपरा के अन्त्य भक्त होने के कारण, अपने इस उग्र सुधारवादी साथी के बहुतेरे विचारों से पूर्णतया महमत न होने पर भी, अपनी आन्तरिक भावनाओं को दबाकर उन्होंने कई बातों में समझौता करते हुए अब तक उसके साथ-साथ कदम बढ़ाकर चलने का ही प्रयास किया था, ताकि 'समाज' की एकता बनी रह सके! उदाहरणार्थ, तरुण दल ने इस बात को लेकर जब काफी होहल्ला मचाना शुरू किया कि किसी भी ब्राह्म को यज्ञोपवीत-सूत्र नहीं धारण करना चाहिए, क्योंकि वह जातिगत भेदभाव तथा संप्रदायवादिता का प्रतीक है, तो देवेन्द्र ने तुरन्त ही स्वयं भी अपना जनेऊ उतार फेंका और अपने परिवार में यज्ञोपवीत-संस्कार करना बंद कर दिया।

‘प्रथम विभाजन’

परन्तु सच तो यह था कि नई और पुरानी पीढ़ी के बीच मतभेद की जो यह लम्बी-चौड़ी दरार पड़ चुकी थी, उसे पूरना असंभव-सा था। अतः एक दिन आया, जबकि उसकी वेदी की उस फटी दीवार को अपनी बाँहों में थामकर ढह पड़ने से रोकना देवेन्द्रनाथ के लिए भी असंभव हो गया। वस्तुतः तरुण दल की मांगें दिन-पर-दिन बढ़ती ही चली गईं। फलतः पुराने विचारवाले लोग उनसे अधिकाधिक दूर ही खिंचते चले गए। जब परिस्थिति एकबारगी ही काबू से बाहर हो गई और दोनों दलों का एक साथ मिलकर काम करना दुष्कर

हो गया, तब अंत में केशव और उसके उग्र साथी 'भारतवर्षीय ब्राह्म समाज' के नाम से एक नवीन संस्था के रूप में संगठित हो 'आदि ब्राह्म समाज' के दायरे से बाहर निकल गए। फलतः अपने पुराने साथियों सहित बेचारे देवेन्द्रनाथ अकेले रह गए। यह घटना सन् १८६७ ई० के लगभग घटी। ब्राह्म समाज के इतिहास में यह प्रसंग उसके 'प्रथम विभाजन' के नाम से विख्यात है।

स्थानाभाववश यहाँ उस लंबे 'यज्ञोपवीत-प्रकरण' संबंधी विवाद का विवरण देकर 'समाज' के इस विस्फोट का सुविस्तृत लेखा प्रस्तुत करने में हम असमर्थ हैं, जिसने कि इस सारे काण्ड को तूल देकर उसे इस पराकाष्ठा की स्थिति तक पहुँचाया। साथ ही 'ब्राह्म समाज' के इसके बाद के विकास-क्रम की घटनाओं का भी यहाँ उल्लेख करना हम अनावश्यक समझते हैं, क्योंकि इसके बाद से देवेन्द्रनाथ ने सार्वजनिक क्षेत्र से एक प्रकार का सन्यास-मा ले लिया और अपना अधिकांश समय कलकत्ते में दूर बोलपुर में प्रस्थापित 'शान्ति-निकेतन' नामक अपने एकान्त आश्रम ही में मनन-चिन्तन तथा ईश्वराराधन में व्यतीत करना शुरू किया। यह आश्रम आगे चलकर उनके महान् पुत्र कविवर रवीन्द्रनाथ की सुविख्यात 'विश्व-भारती' नामक संस्था को जन्म देकर इस देश का एक प्रमुख सांस्कृतिक जननी बन गया।

विभाजन के बाद

इस ऐतिहासिक विभाजन के बाद ब्राह्म समाज के नेतृत्व की वागडोर कई वर्षों के लिए देवेन्द्र के बजाय अब उनके उत्तराधिकारी केशव के ही हाथों में केन्द्रित हो गई। अतएव इसके बाद की उसकी इतिहास-गाथा को उस महापुरुष का अलग से जीवन-चित्र प्रस्तुत करते समय ही देना अधिक उपयुक्त होगा। हाँ, इस बात का यहाँ उल्लेख कर देना आवश्यक है कि इस सारे विवाद के बावजूद भी देवेन्द्र और केशव के पारस्परिक स्नेह-बंधन तथा एक-दूसरे के प्रति आदर-भाव में रचमात्र भी अंतर नहीं पड़ पाया। बल्कि इस घटना के वर्ष भर बाद ही केशव के दल ने एक विशेष उत्सव का आयोजन कर वृद्ध देवेन्द्रनाथ को, उनके महान् व्यक्तित्व तथा जीवन-कार्य के उपलक्ष्य में एक मानपत्र देकर, श्रद्धाभाव-पूर्वक 'महर्षि' की उपाधि से विभूषित किया और

उनके प्रति अपना अगाध सम्मान प्रकट किया। और उदारमना देवेन्द्र ने भी इस अभिय विवाद को केवल विचारों ही के क्षेत्र तक परिमित रखकर अपने हृदय की गहराई में 'समाज' के दोनों ही दलों के लिए ज्यो-का-त्यो सहानुभूति का भाव बनाए रक्खा। वह उनकी सहायता करने के लिए यथासाध्य जीवनभर तत्पर रहे, यहाँ तक कि सन् १८७१ ई० में केशव के अनुरोध पर उन्होंने 'भारतवर्षीय ब्राह्म समाज' के भी मंच में एक बार प्रवचन किया, यद्यपि केशवचंद्र की ईसाइयत के रंग में रंगी हुई धर्म-प्रवृत्तियों के वह कभी भी समर्थक न रहे और अंत तक इस संघ में अपना विरोध प्रकट करते रहे।

बुद्धिवादी ज्ञानमार्गी

देवेन्द्रनाथ एक पक्के बुद्धिवादी ज्ञानमार्गी साधक थे। किन्तु यह आश्चर्य की बात थी कि शंकर द्वारा प्रतिपादित अद्वैत वेदान्त के सिद्धान्त के साथ वह जीवनभर अपने आपको सहमत न कर सके। वह जीवात्मा और परमात्मा के एकत्व अर्थात् 'सोह-मस्मि', 'तत्त्वमसि', आदि श्रुतिवाक्यों में निहित अद्वैत ब्रह्मवाद की धारणा को स्वीकार करने को कभी भी तैयार न हो सके, जैसा कि उनके निम्न-लिखित विचारों में स्पष्ट है—“हमारा ईश्वर के साथ जो संघर्ष है, वह है उपासक और उपास्य का संघर्ष और यही ब्राह्म धर्म का मूलतत्त्व है। अतः जब मैंने आचार्य शंकरकृत वेदान्त-दर्शन की शारीरक मीमांसा में इससे विलकुल विपरीत निष्कर्ष निकालते देखा, तो मैं किसी भी तरह उस पर अपना विश्वास न जमा सका और न अपने मत विशेष की पुष्टि के लिए ही उसका अवलंब ले सका।..... इसी प्रकार स्वयं उपनिषदों में भी जब 'सोहमस्मि' 'तत्त्वमसि' जैसे वाक्यों को मैंने पाया तो उनकी ओर से भी मैं निराश हो गया। मैंने यह अनुभव किया कि उपनिषद् भी हमारी सभी आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं कर सकते। वे हमारे हृदय की प्यास को संपूर्णतया बुझाने में असमर्थ हैं!..... जब मैंने उपनिषदों को यह कहते सुना कि ब्रह्म की उपासना अतः निर्वर्ण की ओर ले जानेवाली है, तो मेरा अतस्तल इस विचार से काँप उठा.... .. क्योंकि यदि इसका अर्थ यह हुआ कि सिद्धि प्राप्त करने पर जीवात्मा अपनी पृथक् चेतना को खो

बैठता है, तो यह तो मुक्ति नहीं हुई, बल्कि एक प्रकार से भयकर रूप से अपना अस्तित्व खो बैठना जैसा हुआ !” अद्वैतवाद के प्रति उनके इस प्रबल प्रतिरोध का कारण सभवतः यही हो कि प्रकट में विवेकानन्द की भाँति शत-प्रति-शत विशुद्ध ज्ञानी दिखाई देते हुए भी अपने अतस्तल की तह में वह एक छिपे हुए सच्चे भक्त ही थे ! फलतः स्वयं अपने और अपने उपास्य के बीच के द्वैतवाद के परदे को मिटा देने के लिए वह कदापि तैयार नहीं हो सकते थे !

परन्तु एक साधक और विचारक से भी कही अधिक महत्त्व का स्थान देवेन्द्रनाथ को हमारे इतिहास के आधुनिक पर्व में जागृति के एक प्रमुख नेता के रूप में प्राप्त है। उन्होंने राममोहनराय द्वारा प्रज्वलित नवयुग की मशाल को अपने सबल हाथों में लेकर हमारे धार्मिक, सामाजिक और सांस्कृतिक पुनरुत्थान के अनुष्ठान को कही आगे बढ़ा दिया। बंगाल के पारिवारिक और सामाजिक जीवन में उन्होंने नवयुग की भावना से युक्त एक अद्भुत सांस्कृतिक चेतना का स्वर भर दिया। उसका सर्वोत्कृष्ट उदाहरण प्रस्तुत हुआ स्वयं उन्हीं के अपने निजी परिवार में, जिसने कि आगे चलकर कवीन्द्र रवीन्द्रनाथ जैसे विश्वव्यापक महामनीषी और अनीन्द्रनाथ, गगनेन्द्रनाथ जैसे कलाकारों को जन्म देकर सारे देश का मुख उजागर कर दिया ! निश्चय ही महर्षि देवेन्द्रनाथ के महान् सांस्कृतिक प्रभाव का ही यह सुफल था कि इस देश में शान्तिनिकेतन और विश्व-भारती का आदर्श अतत् मूर्त रूप में सामने आ पाया !

देवेन्द्रनाथ की देन

देवेन्द्रनाथ का देहान्त १९ जनवरी, सन् १९०५ ई०, के दिन ८८ वर्ष की आयु में, अपने महान् शिष्य और उत्तराधिकारी केशव के असामयिक निधन के भी कई वर्ष बाद जाकर हुआ। अतः आधुनिक भारतीय राजनीति के भोष्मपितामह स्वनामधन्य दादाभाई नौरोजी की भाँति, उन्हें भी लगभग एक शताब्दी भर हमारे आधुनिक इतिहास के विकास-क्रम के एक महाप्रहरी के रूप में इस देश के पुनरुज्जीवन के यज्ञ में भाग लेने तथा उसका पर्यवेक्षण करने का बेजोड़ अवसर मिला। इस महापुरुष ने जीवन भर धार्मिक-आध्यात्मिक

अनुसंधान और सामाजिक उत्थान के महान् अनुष्ठान में तल्लीन रहकर, अपने उज्ज्वल उदाहरण द्वारा व्यक्ति और समाज के सामंजस्यपूर्ण विकास की सिद्धि का एक अनुपम पाठ हमें इस युग में पढ़ाया ! और यदि और कुछ नहीं तो यही युग कम महत्त्व की बात थी कि इसी धवलकेशपाशयुक्त दीर्घजीवी ऋषि ही की गोद से रवीन्द्रनाथ जैसी विश्व-विभूति का उपहार इस देश को मिला।

देवेन्द्रनाथ की जीवन-साधना का यथार्थ परिचय पाने के लिए वस्तुतः अपेक्षित है उनकी स्वलिखित ‘आत्म-कथा’ तथा ‘ब्राह्म धर्म व्याख्यान’ शीर्षक उनके गभीर प्रवचनों के विशद संग्रह के साथ-साथ ब्राह्म समाज के संपूर्ण इतिहास का गहरा अनुशीलन करने की ! और उनके द्वारा बोए गए सांस्कृतिक बीजों का सुफल आँकने के लिए तो न केवल बंगाल ही की प्रत्युत समूचे भारतवर्ष की पिछली लगभग एक शताब्दीव्यापी धार्मिक, सामाजिक और सांस्कृतिक प्रगति का सिंहावलोकन करना आवश्यक है। उन्होंने हमें जो सबसे बड़ा वरदान दिया, वह था उस प्रगाढ़ धार्मिक आस्तिकता का वर, जिसकी कि सशय के गर्त की ओर लुढ़कते चले जा रहे इस युग के हमारे नवोत्थित समाज को सबसे अधिक आवश्यकता थी। अपने महान् समसामयिक दयानन्द और रामकृष्ण की भाँति उन्होंने भी इस देश की अनमोल सांस्कृतिक वसीयत के प्रति सचेत कर जीवनभर इस शोचनीय अवस्था में से हमें उबारने का ही सत्प्रयास किया।

आधुनिक विदेह जनक

उन्होंने राजाओं का-सा वैभव पाया था, फिर भी सामारिक उत्कर्ष एवं भोगविलास की विडम्बना में न फँसते हुए अपनी आयु का अधिकांश भाग आत्मकल्याण एवं जनहित की वेदिका पर उत्सर्ग कर ‘महाराजा’ के बजाय ‘महर्षि’ कहलाने ही में अधिक गौरव का अनुभव किया ! निश्चय ही वह इस युग के ‘रार्जाय विदेह जनक’ थे। उन्होंने ही इस युग में इस बात का सर्वश्रेष्ठ उदाहरण हमारे सामने प्रस्तुत किया कि राजप्रासाद के चकाचौंधभरे वातावरण में जन्म लेकर तथा वैभव की हवा में पालित-पोषित होकर भी किस प्रकार आत्मकल्याण का इच्छुक मच्चा साधक निलिप्त रहकर आध्यात्मिकता के उच्चतम शिखर पर पहुँच सकता है !

“हमारा उपासनालय यह निखिल विश्व-ब्रह्माण्ड है, हमारा आराध्य देवता है वह परब्रह्म परमात्मा, हमारा धर्मग्रन्थ है अपना सहजजात अतर्जान, हमारी मुक्ति की राह है उस प्रभु की पूजा, हमारे प्रायश्चित्त का साधन है आत्मशुद्धि, और हमारे पथ-प्रदर्शक नेता है ससार के सभी महान् सत्पुरुष ! हमारे इस सार्वभौम उदार 'ब्राह्म धर्म' में भला संप्रदायवादिता या विरोध का काम ही क्या है ? यह तो सभी की सामान्य संपत्ति है, कोई पृथक् मत-मतान्तरमूलक मस्या नहीं ! यह तो उन सभी का खुला धर्म-आंगन है, जो उस एकमात्र सत्यस्वरूप परमेश्वर की पूजा-उपासना में लीन हो उसके प्रति प्रीतिभाव बढ़ाने और उसके प्रिय कार्यों को करने के लिए उत्कण्ठित हो !”

ससार के धर्म-आंगन में स्वर्णाक्षरों में अंकित किये जाने योग्य इन शब्दों की उद्धोषणा करनेवाले 'ब्रह्मानन्द' केशवचन्द्र सेन सच्चे अर्थ में एक विश्व-नागरिक थे ! इन उदात्त शब्दों में ब्राह्म धर्म के आदर्श के साथ-साथ अपने अतस्तल की निगूढतम भावनाओं की भी यथार्थ अभिव्यक्ति करके, पेंतालिस वर्ष के अपने अल्पकालिक जीवन ही में उन्होंने हमारे नवजागरण के इतिहास के एक समूचे पृथक् अध्याय की रचना कर डाली थी। वह अपने पूर्वाचार्य राममोहनराय द्वारा बोए गए बीज के सबसे सुन्दर मुफल के रूप में इस देश की धर्म-वाटिका में उच्छ्वसित हुए थे। वह उस युग-प्रवर्तक राजर्षि की साधना के मानो मूर्तिमान् सिद्धितत्त्व थे और उसके सम-

न्वयमूलक स्वप्न को सार्थक बनाने के लिए ही उसकी सांस्कृतिक परंपरा में अवतीर्ण हुए थे ! यद्यपि यह सच था कि अपने उपयुक्त समय में बहुत पहले ही पैदा हो जाने के कारण, अपने युग के निर्माण में महत्त्वपूर्ण योग देकर भी, वह उस युग द्वारा वस्तुतः ठीक से पहचाने ही न गए—उनकी ऊँचाई का यथार्थ मूल्य तो आज आकर कहीं हम कुछ-कुछ जानने लगे हैं ! फिर भी अपनी वाणी और लेखनी की अदम्य शक्ति तथा अपने जादूभरे व्यक्तित्व के दुर्द्धर्प प्रभाव से हमारे धार्मिक और सामाजिक जीवन के



केशवचन्द्र सेन

उसकी विद्युत्-सी कौध में स्वयं उनके ही अपने युग में भी भला किमकी आँखें एक बार चौधियाये बिना रह सकी होंगी ? वह एक स्वाधीनचेता विचारक और निर्भीक समाज-संस्कारक तो थे ही, परन्तु इसमें भी कहीं अधिक थे वह ईश्वर के लिए नडपनेवाले एक सच्चे भक्त, साधक और छिपे हुए सत। यह हमारा परम सौभाग्य था कि अपनी एकांत वैयक्तिक आध्यात्मिक साधना में पूर्णतः लीन

स्तरो को वेग-सहित शकड़ोर-कर जिस प्रखरता के साथ एक-वारगी ही उन्होंने हमें हिला दिया,

हो जाने के बजाय समाज के खुले आँगन में उतरकर जीवनभर लोककल्याण के कठोर अनुष्ठान में तत्पर रहने का ही मार्ग उन्होंने अपनाया ! उन्होंने हमें सकुचित सांप्रदायिकता के अधकूप में से निकालकर निखिल मानवता के व्यापक प्राज्ञाण में ला खड़ा करने का उच्च प्रयास किया। इसके लिए ऐसे एक विश्व-धर्म का आदर्श उन्होंने हमारे सन्मुख प्रस्तुत किया, जिसके अन्तर्गत सभी मत-मतान्तरों के सनातन सत्य स्थान पा सकें तथा जिसकी छत्रछाया में बिना किसी प्रकार के भेदभाव के प्रत्येक मनुष्य उस परम पिता विश्व-नियन्ता की पूजा-उपासना में लीन हो जीवन सार्थक कर सके। इस प्रकार वर्ग, संप्रदाय, जाति और राष्ट्र की सीमित परिधि से ऊपर उठकर उन्होंने हमें एक व्यापक अंतर्राष्ट्रीय भावना में परिप्लावित करने का स्तुत्य प्रयत्न किया। यही उनकी हमारे लिए सबसे मूल्यवान् देन थी ! यद्यपि उनके द्वारा बोए गए धर्म-बीज अभी पूर्णतया प्रस्फुटित नहीं हो पाए हैं—वे अभी भी बहुत-कुछ धरती ही में हैं। फिर भी वे अकुरित हो चुके हैं, यह तो निश्चित है ही ! निश्चय ही किसी दिन उनके पूर्ण प्रस्फुटन के साथ ही वह नववसत का साज भी निखरेगा, जबकि आज के इस कटू भेदभाव को भूलकर कंधे से कंधा मिला प्रत्येक मानव इस पुनीत भूमि की सामान्य वेदी पर अपना निर्धारित लक्ष्य सिद्ध करने की ओर अग्रसर हो सकेगा। तभी सम्भवतः हम अपने इस चरित्रनायक के महान् सदेश का यथार्थ मूल्य तथा उसकी ऊँचाई का सही माप भी ले सकेंगे, आज नहीं !

जन्म और शिक्षा-दीक्षा

केशव का जन्म हुआ था १९ नवम्बर, सन् १८३८ ई०, के दिन कलकत्ते के कोल्टोला मोहल्ले के वैद्य जाति के उस प्रसिद्ध सेन-परिवार में, जिसके एक प्रख्यात पूर्वपुरुष—वल्लाल सेन—ने किसी जमाने में सारे बंगाल पर राज्य-शासन किया था। उसके ही अन्य एक नामांकित सदस्य—रामकमल सेन—राजा राममोहनराय के समकालीन थे। वह छापाखाने के एक साधारण कम्पोजीटर की स्थिति से ऊपर उठकर क्रमशः बंगाल की रॉयल एशियाटिक सोसायटी के सर्वप्रथम भारतीय मंत्री, कलकत्ते की सरकारी टंकसाल के कोषाध्यक्ष और

बंगाल-बैंक के दीवान के उच्च पद तक पहुँचे थे। उधर साहित्य के क्षेत्र में भी एक विशद आगल-बँगला शब्दकोश की रचना कर वह गौरव का स्थान प्राप्त करने में सफलीभूत हुए थे ! केशवचन्द्र इन्हीं सुप्रसिद्ध रामकमल के सुपौत्र थे और 'होनहार बिरवान के होते चिकने पात' नामक कहावत के अनुसार बचपन ही से ऐसे असामान्य प्रतिभासूचक लक्षणों को लेकर सामने आए थे कि जब वह पाँच वर्ष के निरे बालक ही थे, तभी उनके महान् पितामह ने यह भविष्यद्वाणी कर दी थी कि "बासु* निश्चय ही कुटुम्ब की प्रतिष्ठा को बनाए रखेगा !"

उनके बचपन के प्रिय साथी और भावी शिष्य भी प्रतापचन्द्र मजुमदार ने लिखा है कि "उनके उस कुमारवस्था के सरल सौन्दर्य से देवदूतों की-सी आभा झलकती थी !..... वह अपने उस बाल-रूप में अपनी माता के हृदय के लिए अभिमान की एक वस्तु, अपने परिवार के लिए आनन्द के साधन, अपनी पाठशाला के लिए आभूषण-रूप और अपने मोहल्ले के लिए एक गौरवपूर्ण सम्मान जैसे थे तथा अपने साथियों के तो वह मानो स्वयंसिद्ध नेता प्रतीत होते थे !" कहने की आवश्यकता नहीं कि उचित शिक्षा-दीक्षा के संस्कारों द्वारा परिमार्जित और विकसित होने पर कालान्तर में उनकी वह जन्मजात नैसर्गिक प्रतिभा मानो दूने प्रकाश के साथ दमक उठी, यद्यपि दुर्भाग्यवश बचपन ही में अपने महान् पितामह और पिता दोनों ही की गाँद से बिछुड़ जाने के कारण उनके अध्ययन के क्रम में बीच-बीच में काफी बाधाएँ भी उपस्थित होती रहीं।

वह पहले तो उच्च शिक्षा के लिए कलकत्ते के सुप्रसिद्ध 'हिन्दू कॉलेज' में प्रविष्ट हुए थे, किन्तु कुछ ही समय बाद वहाँ से हटाकर अपने आभिभावकों द्वारा स्थानीय 'मेट्रोपालिटन इस्टीट्यूट' में भेज दिए गए। वहाँ से अन्ततः उन्हें पुनः हिन्दू कॉलेज ही में वापस आना पड़ा। वस्तुतः स्कूल-कॉलेज से कहीं अधिक उन्होंने जो कुछ सीखा, वह था अपने व्यक्तिगत प्रयत्न द्वारा ही। उसमें सबसे उल्लेखनीय था सन् १८५६ ई० से १८५८ ई० तक लगभग दो वर्ष तक श्री० जोन्स नामक एक अंग्रेज प्रोफेसर के

* केशवचन्द्र बचपन में अपने परिवार में इसी प्यार के नाम से पुकारे जाते थे।

तत्त्वावधान में वैयक्तिक रूप से किया गया धर्म और दर्शन विषयक उनका वह गहन अध्ययन, जिसका कि उनके जीवन-क्रम पर महत्त्वपूर्ण प्रभाव पड़ा। उनमें अध्यात्म तथा धर्म के प्रति रुझान तो एक जन्मजात प्रवृत्ति के रूप में बचपन ही से गहराई के साथ विद्यमान था। अतः इस दार्शनिक अनुशीलन ने मानो अग्नि में घी का-सा काम किया। उसके फलस्वरूप उस अल्पावस्था ही में प्रवृत्तिपथ की मृगमरीचिका की ओर से आँखें हटाकर आत्मकल्याण के सच्चे मार्ग की ओर अग्रसर हो उन्होंने साधना के कठोर शिकजे में अपने आपको कसना शुरू किया। उन्होंने सुख-समृद्धि के वातावरण में पनपने पर भी अत्यन्त सरलता और गरीबी का वातावरण ही में परम कल्याण का मार्ग देखा। मास-मद्धली के आहार का उन्होंने त्याग कर दिया। सुबह-शाम नियमित रूप से प्रार्थना करना शुरू किया। अपने भीतरी विकारों के घटाटोप से विमुक्त होने के लिए आत्म-शुद्धि तथा प्रायश्चित्त के पथ की ओर भी दृढ़तापूर्वक कदम बढ़ाना आरम्भ किया। इस आत्मसंयम के पुनीत अनुष्ठान में सफलीभूत होने के लिए सम्पूर्ण रूप से उस दयालु परमात्मा ही के चरणों में अपने आपको छोड़ देने में अब एकमात्र आश्रय उन्हें दिखाई दिया।

इन्हीं दिनों एक नया मोड़ सामने आया। उनके अभिभावकों ने नौ-दस वर्ष की एक निरीह बालिका—जगन्मोहिनी देवी—के साथ विवाह-सूत्र में उनका गठबन्धन कर दिया। फिर भी केशवचन्द्र का चित्त अपनी आध्यात्मिक साधना और तपस्या की ओर से तनिक भी विचलित न हुआ। वस्तुतः विवाह हो जाने पर भी अपने महान् समसामयिक रामकृष्ण की भाँति पत्नी के साथ बरसों उनका किसी प्रकार का दापत्य-संपर्क स्थापित न हुआ। उन्होंने स्वयं ही इस बात का उल्लेख किया है कि “मेरे प्रणय की मधुरात्रि” (सुहाग की रात) प्रभु के मदिर में आराधना-उपासना ही में व्यतीत हुई थी।” परन्तु बाद में यथाविधि गार्हस्थ्य-धर्म का पट्टिपालन करते हुए उन्होंने दाम्पत्य-जीवन का एक उत्कृष्ट उदाहरण हमारे सम्मुख प्रस्तुत किया।

सार्वजनिक जीवन का श्रीगणेश

किन्तु उपर्युक्त विवरण से पाठक कही यह न मान बैठें कि हमारे चरितनायक का इन दिनों का एकमात्र व्यवसाय केवल अपना निजी एकाकी

परमार्थ-साधन ही रहा हो! वस्तुतः एक ओर तो अतर्मुखी होकर कठोर तपस्या की आँच में अपने आपको तपाते हुए उपर्युक्त एकान्त साधना में वह लवलीन हो रहे थे। दूसरी ओर साथ ही साथ बाहर समाज के विशद प्राङ्गण में उतरकर, जनोत्थान और लोकसेवा के कँटीले मार्ग पर बढ़ते हुए, अपने अतस्तल की निगूढ़ भावनाओं की विराट् अभिव्यक्ति करने का भी वह जोरों के साथ प्रयास कर रहे थे। जैसा कि महर्षि देवेन्द्रनाथ के प्रसंग में उनका परिचय देने समय पिछले प्रकरण में हम बता चुके हैं, यद्यपि वह थे अभी केवल अठारह-उन्नीस वर्ष के एक उठते हुए नौजवान ही, फिर भी अपने नगर के सार्वजनिक क्षेत्र में ‘ब्रिटिश इंडिया सोसायटी’ (सन् १८५४ ई०) नामक एक साहित्यमोष्ठी, ‘गुडविल फ्रेटर्निटी’ (१८५७ ई०) नामक एक धार्मिक भ्रातृमंडली और कोलूटोला की एक रात्रिपाठशाला (१८५५ ई०) तथा और भी कई छोटी-बड़ी लोकसंस्थाओं के प्रतिष्ठापक एवं सूत्र-संचालक के रूप में सामने आकर इस छोटी-सी उम्र ही में काफी ख्याति वह प्राप्त कर चुके थे।

‘ब्राह्म समाज’ के आँगन में

हाँ, यह बात अवश्य थी कि अपने भीतर और बाहर दोनों दिशाओं में अभी कोई निश्चित ध्रुव-बिन्दु का आधार न होने के कारण वह टटोल-टटोलकर ही आगे बढ़ रहे थे। उनकी स्थिति एक संघर्ष की स्थिति थी। अपनी इन दिनों की डॉक्टर-डोल अवस्था का चित्र खींचते हुए स्वयं उन्होंने ही वर्षों बाद इंग्लैंड में एक व्याख्यान के अंतर्गत यह बताया था कि किस प्रकार अन्त में वह उस स्थिति से उबरकर ब्राह्म समाज के प्रति आकृष्ट हुए थे। उनके वे शब्द हैं—“अंग्रेजी शिक्षा ने मेरे मस्तिष्क को उलट-सा दिया था। फलतः उसमें एक शून्य-सा पैदा हो गया था। मैंने मूर्तिपूजा-मूलक धर्म का तो त्याग कर दिया था। परन्तु बदले में अभी कोई ऐसा रचनात्मक ठोस धार्मिक आधार मुझे नहीं मिला था, जिस पर कि अपने पैर मैं टिका सकता। किसी भी व्यक्ति के लिए आखिर बिना एक ठोस धार्मिक आधारशिला के इस लोक में रहना भला क्योंकि सब हो सकता है?.....मैं गहराई के साथ न केवल उस परमपिता परमात्मा में अटल श्रद्धा ही की

आवश्यकता का अनुभव करता, बल्कि साथ ही साथ इस पृथ्वी पर एक ऐसे भ्रातृत्व के आंगन की प्रस्थापना का भी स्वप्न मन ही मन देखता था, जिसकी परिधि में मनुष्य मात्र एक हो सके। किन्तु कहाँ पाया जा सकता था ऐसा सार्वजनीन धर्म-आंगन ?..... मेरी अपनी जानकारी के विभिन्न मत-मतान्तरों और धर्म-संप्रदायों से तो अपने इस प्रश्न का कोई समाधानसूचक उत्तर मिलते मुझे नहीं दिखाई देता था। इन्हीं दिनों की बात है कि अचानक एक दिन कलकत्ता के ब्राह्म समाज द्वारा प्रकाशित एक छोटी-सी पुस्तिका मेरे हाथों में पड़ गई। जब मैंने उसका 'ब्राह्म धर्म क्या है' शीर्षक अध्याय पढ़ा, तो सहसा मुझे ऐसा कुछ लगा जैसे उसमें निहित विचारों में से मेरे अपने अन्तःस्तर में निहित धर्म-भाव ही की प्रतिध्वनि निकल रही हो। मुझे उसमें अपनी आत्मा की तह में छिपे परमात्मा की स्पष्ट आवाज सुनाई पड़ी। वैसे ही तुरन्त मैंने ब्राह्म समाज की उस वेदी के साथ अपने आपको सलग्न कर लेने का दृढ़ संकल्प कर लिया।"

प्रवचनों की धूम

इसके बाद तो उस महान् सुधारक सस्था के साथ एक होकर, किस प्रकार अपने जादूभरे व्यक्तित्व के प्रभाव तथा वाणी और लेखनी के अप्रतिम ओज द्वारा अल्पकाल ही में उसके कलेवर में मानो बिजली-सी दौड़ाकर, न केवल बंगाल ही बल्कि सारे भारतवर्ष की आँखें उन्होंने उसके प्रति मोड़ दी, यह हम महर्षि देवेन्द्रनाथ के चरित्र का वर्णन करते समय पिछले प्रकरण में देख ही चुके हैं। उनकी उत्कट धर्म-भावना और अद्वितीय प्रतिभा ने देवेन्द्रनाथ का हृदय हर लिया। सहज ही उन दोनों के बीच एक ऐसा प्रगाढ़ स्नेह-बन्धन प्रस्थापित हो गया, जो बाद में विचारों में गहरा मतभेद हो जाने पर भी जीवन-पर्यन्त शिथिल न होने पाया। सन् १८५९ ई० में देवेन्द्रनाथ उन्हें अपने साथ लका की समुद्र-यात्रा पर भी लिवा ले गए। वहाँ से लौटने पर दोनों ही एक नवीन उत्साह तथा उमंग के साथ ब्राह्म समाज की वेदी पर से जनोत्थान के कार्य को आगे बढ़ाने में तल्लीन हो गए। उसी वर्ष ५० ईश्वरचन्द्र विद्यासागर के अवकाश ग्रहण कर लेने पर 'समाज' के मन्त्रित्व का भार भी इन्हीं दोनों के कंधों पर आ पड़ा। अतः

अब और भी अधिक जोर-शोर के साथ वे अपना सुधार-कार्य करने लगे। इन्हीं दिनों उस सुप्रसिद्ध 'ब्राह्म विद्यालय' की प्रस्थापना की गई, जिसने ब्राह्म धर्म का तत्त्व-विवेचन करने तथा 'समाज' के भावी कार्यकर्त्ताओं को अपने मिशन-कार्य के लिए तैयार करने में महत्त्वपूर्ण भाग लिया। इस विद्यालय की कक्षाएँ प्रति रविवार को हुआ करती थीं। उनमें देवेन्द्रनाथ बंगला में तथा केशव अग्नेजी में विशेषकर आध्यात्मिक विषयों पर ओजपूर्ण ढंग से गंभीर प्रवचन किया करते थे। इन प्रवचनों को बाद में प्रचार के हेतु पुस्तकाकार में प्रकाशित करने की भी व्यवस्था की गई। देवेन्द्रनाथ के बंगला प्रवचन तो 'ब्राह्मधर्मों मत ओ विश्वास' शीर्षक सकलन के रूप में निकले और केशव के अग्नेजी व्याख्यान बारह छोटे-छोटे ट्रैक्टों के रूप में प्रकाशित हुए। उनमें पहला था 'तरुण बंगाल, यह तुम्हारे लिए है' शीर्षक सुप्रसिद्ध ट्रैक्ट, जिसने बंगीय युवक-समाज की नसों में एक बिजली-सी दौड़ा दी !

'संगत सभा' और 'इंडियन मिरर'

तब अपना सारा समय केवल समाजसेवा और लोकोद्धार के कार्य ही में लगाने के उद्देश्य में सन् १८६१ ई० में केशवचन्द्र ने बंगाल-बैंक तथा सर-सरकारी टकसाल की अपनी लाभप्रद नौकरी से, जिसमें कि वह अभी हाल ही में लगे थे, त्यागपत्र दे दिया। उसी वर्ष कुछ उत्साही साथियों को साथ लेकर 'संगत सभा' नामक एक पृथक् भ्रातृ-मंडली की स्थापना उन्होंने की। उसके तत्त्वावधान में समाज-सुधार एवं आध्यात्मिक पुनरुत्थान संबंधी रचनात्मक कार्यों के अतिरिक्त पौर्वात्य एवं पाश्चात्य धर्म-ग्रन्थों का गहन अध्ययन किया जाने लगा। साथ ही उसी वर्ष देवेन्द्रनाथ की आर्थिक सहायता से 'इंडियन मिरर' नामक एक अग्नेजी पत्र भी उन्होंने प्रकाशित करना शुरू किया। यह पत्र कालान्तर में पाक्षिक से साप्ताहिक और अंत में एक प्रभावशाली दैनिक पत्र बन गया। इसके अतिरिक्त भारत में जनशिक्षा के विस्तार के लिए ब्रिटिश राष्ट्र के नाम एक महत्त्वपूर्ण अपील भी उन्होंने निकाली। यही नहीं, उन्हीं दिनों आज के उत्तर प्रदेश को अपने चंगुल में दबोच लेनेवाले एक भीषण अकाल का समाचार पाकर, वहाँ की पीड़ित जनता के सहायतार्थ काफी चंदा इकट्ठा करने की भी व्यवस्था

उन्होंने की ! उनकी इन प्रखर सार्वजनिक सेवाओं और उत्कट लगन से प्रभावित होकर वर्ष भर बाद ही बड़ी धूमधाम के साथ देवेन्द्रनाथ ने 'ब्रह्मानन्द' की उपाधि से विभूषित कर उन्हें ब्राह्म समाज के 'आचार्य' की गद्दी पर प्रतिष्ठित कर दिया । फलतः अब और भी जोर-शोर के साथ 'समाज' के मंच पर से सुधार-कार्य होने लगा ।

उन्हीं के प्रयत्न से १८६२ और १८६४ ई० में ब्राह्म समाज के नत्वावधान में बंगाल के सर्वप्रथम दो अतर्जतीय विवाह संपन्न हुए । परदा-प्रथा को तोड़ने के प्रयास में तो स्वयं अपनी पत्नी को ही पहले-पहल घर से बाहर लाकर उन्होंने साहस और सच्ची लगन का एक उज्ज्वल उदाहरण प्रस्तुत किया । इस प्रसंग में अपने परिवार का कोपभाजन बनकर घर से निकाल दिए जाने का दण्ड तक भुगतना उन्होंने स्वीकार किया । इन्हीं दिनों बंबई, कालीकट, मद्रास आदि स्थानों की एक विगद प्रचार-यात्रा भी उन्होंने की, जिससे कि देश में अन्यत्र भी ब्राह्म धर्म का प्रतिपादन करने-वाले कई एक सुधारवादी समाज-मंदिरों की प्रस्थापना हो गई । इसके अलावा 'ब्राह्म बन्धुसभा' नामक अन्य एक संस्था को जन्म देने के लिए भी उन्होंने अपना हाथ बढ़ाया । इस संस्थाने धार्मिक और सामाजिक विषयों पर सार्वजनिक भाषण करने, पर्दानशीन स्त्रियों में शिक्षा और अध्ययन की प्रवृत्ति जगाने, उनके लिए उचित पाठ्यक्रम और परीक्षाएँ आदि नियोजित करने तथा अन्य सुधार-कार्यों को आगे बढ़ाने के सबंध में बड़ा ही महत्त्वपूर्ण योग उस आरम्भिक युग में दिया ।

‘प्रथम विभाजन’

किन्तु इस प्रकार धड़ाधड़ समाज-सुधार के पथ पर अग्रसर होने का उनका यह कार्यक्रम एक-दम अवरोध और निष्कटक रूप से भला कब तक चल सकता था ? जैसा कि पिछले प्रकरण में कहा जा चुका है, एक-दूसरे के प्रति अगाध स्नेह का भाव रखते हुए भी देवेन्द्रनाथ और हमारे चरितनायक के धर्म और समाज-सुधार विषयक विचारों एवं नीति में गहरा अंतर था । कारण देवेन्द्र थे मूलतः प्राचीन परंपरा ही के अनन्य पुजारी और एक तन्म सुधारक, जबकि केशव उनसे विपरीत गहराई के साथ पाश्चात्य विचारों के रंग में रँगे

हुए एक उग्र सुधारवादी तथा सभी धर्मों के प्रति समान भाव रखनेवाले एक पहुँचे हुए विश्व-धर्मी थे । यदि वे दोनों स्वयं एक-दूसरे को शिष्ट मान्यता देते हुए किसी हद तक साथ-साथ चलते भी रहते, तो भला 'समाज' के अन्य सदस्यों से यही उम्मीद कैसे की जा सकती थी ? उनमें से कई एक तो अब भी रूढ़िवादिता ही की परिधि में घिरे हुए थे । उन्हें केशव जैसे एक पाश्चात्य संस्कारयुक्त 'अब्राह्मण' व्यक्ति का समाज के आचार्यपद पर प्रतिष्ठित होना ही बेतरह अखरता था । अतः, जैसा कि विगत प्रकरण में काफी विस्तारसहित बताया जा चुका है, एक दिन आया जब कि 'समाज' के इस आन्तरिक विग्रह ने ऐसा विकट रूप धारण कर लिया कि पुगने दल के साथ मिलकर काम करना केशव के लिए असंभव-सा हो गया । फलतः विग्रह होकर वह अपने तत्पक्ष साथियों सहित 'भारत-वर्षीय ब्राह्म समाज' के नाम से एक नवीन संस्था के रूप में आदि 'समाज' के दायरे से पृथक् हो गए । यह घटना सन् १८६७ ई० में घटित हुई और ब्राह्म समाज के इतिहास में यह उसके 'प्रथम विभाजन' के नाम में विख्यात है ।

देश भर में 'समाज' की शाखाओं की स्थापना

इसके बाद से देवेन्द्रनाथ सार्वजनिक जीवन से एक प्रकार का सन्यास-सा लेकर अपना अधिकांश समय एकान्तवास ही में व्यतीत करने लगे, जैसा कि पिछले प्रकरण में बताया जा चुका है । अतएव समसामयिक बंगाल के सामाजिक जीवन के नेतृत्व की वागडोर अब स्वभावतः हमारे चरितनायक ही के हाथों में पूर्णतया केन्द्रित हो गई । वही उनके सच्चे उत्तराधिकारी भी थे । कहना न होगा कि केशव की सुधारवादी प्रवृत्तियों स्वच्छन्दता का वातावरण पाकर अब पहले से भी अधिक प्रखरता के साथ अपनी अभिव्यक्ति करने लगी । उन्होंने अपने नवीन 'समाज' की नींव डालने के शीघ्र ही बाद पुनः सारे देश की एक विशद प्रचार-यात्रा की । उसके परिणामस्वरूप पूर्वी बंगाल, आधुनिक 'उत्तर प्रदेश' तथा पंजाब के विभिन्न नगरों में भी 'समाज' की कई शाखाएँ प्रस्थापित हो गईं । कहते हैं, इस समय तक सारे भारतवर्ष में 'ब्राह्म धर्म' को माननेवाले लगभग पचास विभिन्न समाज-मंदिर प्रस्थापित हो चुके थे । उनकी देख-रेख में चालीस पत्र-पत्रिकाएँ, भिन्न-भिन्न भाषाओं में

निकलती थी। साथ ही कई एक बालक-बालिकाओं की शिक्षण-संस्थाएँ भी संचालित होती थी। यह सब कुछ अधिकांश में इस संस्था के उम उद्भट नेता केशवचन्द्र के ही जोरदार प्रचार-कार्य तथा सुधार-वादी आन्दोलन का सुफल था !

‘नवविधान’

तब २४ जनवरी, सन् १८६८ ई०, के दिन कलकत्ते में ‘समाज’ के तत्त्वावधान में एक विशाल नगर-संकीर्तन का आयोजन कर इस महान् नेता ने अपने प्रसिद्ध ‘नवविधान’ की उद्घोषणा की। इस घोषणा द्वारा ब्राह्म समाज की प्रगति के इतिहास में एक नया चाँद जुड़ा। इस घोषणा में केशव ने पहले-पहल अपने अतस्तल के उस आदर्श विश्व-धर्म की रूपरेखा का आभास ससार को दिया, जिसके अनुसार ईश्वर के द्वार पर सभी के समान अधिकार और उस परम्प-पिता की शरण में आनेवाले प्रत्येक जन के लिए मुक्ति के निश्चित वरदान का आश्वासन दिया गया था।

केशव की धर्म-विचारधारा में इसके बाद से उदारता की मात्रा दिन पर दिन बढ़ती ही चली गई। उस पर अब स्पष्टतया हिन्दू धर्म से बाहर के मतों की भी—विशेषतया ईसाई मत की—गहरी छाप दिखाई देने लगी, जिसका कि बहुत जोरों का प्रभाव उनके मस्तिष्क पर युवावस्था के आरंभ के समय से ही पड़ चुका था। उन्होंने अब विशेष रूप से ईसा मसीह के व्यक्तित्व तथा उनकी अलौकिकता के प्रति खुलकर अपनी श्रद्धा-भक्ति प्रकट करते हुए यह उद्घोषित करना शुरू किया कि हिन्दू धर्म के गंभीरतम तत्त्व तथा ईसाइयत के बुनियादी सिद्धान्तों में वस्तुतः कोई विभेद या नहीं है।

साथ ही अब उन पर ज्ञान-मार्ग के बजाय विशेष रूप से भक्तिमूलक भावनाओं का ही रंग गहराई के साथ चढ़ते दिखाई देने लगा। देखते ही देखते राममोहनराय तथा देवेन्द्रनाथ की ज्ञानमूलक बुद्धिवादी भित्ति से बहुत-कुछ हटकर उनका नवीन ‘समाज’ अब स्पष्टतः महाप्रभु चैतन्य की भाव-विभोर वैष्णव भक्ति तथा ईसा मसीह की ‘मुक्ति-प्रदायिनी’ प्रेमधारा के प्रवाह में ही जोरों के साथ बह चला। निश्चय ही यह नवीन प्रवृत्ति स्वयं उनके अपने नए ‘समाज’ ही के बहुतेरे उपासकों के लिए एक अत्यन्त चौका देनेवाली जैसी बात थी।

अब तो वेदों और उपनिषदों के तत्त्वज्ञान के विवेचन के बजाय उसके आँगन में प्रायः सुनाई पड़ने लगा करताल, मृदङ्ग और इकतारे की धुन में भक्ति-रस से सने हुए वैष्णव पदों के गायन-कीर्तन तथा हरि-संकीर्तन का हृदयहारी स्वर ही। उधर प्रवचनों में भी अब ज्ञान के बजाय भक्ति के ही उद्रेक का मानो ज्वार-मा उमड़ने लगा। तब तो कई पुराने और नए ब्राह्म उपासकों के मन में सहज ही यह शका का प्रश्न रह-रहकर उठने लगा कि आखिर उनका यह नया ‘समाज’ अपने भावविभोर नेता के उद्दाम भक्ति-प्रवाह में बहता हुआ कहाँ से कहाँ चला जा रहा था ?

‘ईसाइयत’ का आरोप

उधर स्वयं स्वयं केशव का दिन पर दिन यह हाल होता जा रहा था कि प्रायः बोलते-बोलते भावावेश में अब वह आँसुओं की नदियाँ-सी बहाने लगते और अपनी हृदयगत मार्मिक व्यथा के उद्गारों से पापाणहृद्यों को भी विगलित कर देते ! उनके इस असामान्य भावांद्रेक और अद्भुत आचरण ने लोगों को और भी अधिक चौकाना शुरू किया, जब कि वह खुले आम अब ईसाइयत को पाप, प्रायश्चित्त एवं मुक्ति-संबन्धी विशिष्ट धारणाओं में अपना प्रबल विश्वास प्रकट करने और स्पष्ट शब्दों में ईसा की शरण में आने के लिए मानवता का आह्वान करने लगे ! न केवल भारतीय धर्म के कट्टर उपासकों के लिए ही उनकी यह प्रवृत्ति एक घबड़ा देनेवाली जैसी बात थी, बल्कि स्वयं उनके अपने ‘समाज’ के अतर्गत भी अधिकतर लोग ऐसे ही थे, जो कि इस अबाध प्रवाह में उनका साथ देने को कदापि तैयार न थे ! अतएव शीघ्र ही वह समय आया, जब कि आलोचकों ने खुले आम उन पर यह आरोप लगाना शुरू किया कि वह एक विदेशी धर्म की वेदों पर अपनी बलि चढ़ाकर भारतीय धर्म से एकदम किनारा कस चुके थे और प्रच्छन्न रूप से समाज को ईसाइयत की ओर मोड़ते चले जा रहे थे !

किन्तु सच पूछो तो यह उनका एक निरा भ्रम ही था। क्योंकि यद्यपि यह महापुरुष वास्तव ही में ईसा की महानता तथा ईसाइयत के मानवधर्म-संबन्धी उच्च आदर्शों का हृदय से उपासक था, फिर भी सांप्रदायिक दृष्टि से वह कदापि ‘ईसाइयत’ अथवा किसी भी अन्य मत विशेष का अनुयायी नहीं था।

वस्तुतः वह न तो 'ईसाई' ही था, न 'हिन्दू' ही। वह तो अपने पूर्वगामी राजर्षि राममोहनराय या अपने बाद के महामनीषि गांधीजी की भाँति था एक सच्चा विश्वधर्मी, समन्वय का प्रयास करनेवाला एक उदारहृदय विश्व-नागरिक। यदि एक ओर ईसा के ऊँचे व्यक्तित्व मे अपने स्वप्नलोक के आदर्श की परिपूर्णता का नमूना वह देखता था, तो दूसरी ओर अपने महान् समसामयिक युगपुरुष रामकृष्ण के समीप बैठकर तथा हृदयतल से भगवती काली को पुकार-पुकारकर अपनी मर्मव्यथा प्रकट करते भी तो वह देखा जाता था ! तो फिर कैसे एक ही किसी संप्रदाय विशेष की परिमित परिधि में कोई उसे बाँध सकता था ? वह तो यथार्थ में एक धर्मनेता से भी अधिक था एक भावविभोर भक्त—ईश्वर के लिए तड़पनेवाला एक सच्चा साधक ! यदि उसका कोई दोष था तो केवल यही कि अपने समय की प्रवृत्तियों से वह बहुत आगे बढ़ा हुआ व्यक्ति था ! इसीलिए अपने युग के निर्माण में प्रमुख भाग लेकर भी वह उस युग द्वारा ठीक से समझा और पहचाना न जा सका !

विविध सेवाएँ

अपने पूर्वाचार्य राममोहनराय और देवेन्द्रनाथ की भाँति केशव को भी धर्म के साथ-साथ समाज, शिक्षा, साहित्य आदि सभी क्षेत्रों में सुधार का हाथ बढ़ाकर हमारे सर्वतोमुखी उत्थान में योग देने का गौरवपूर्ण श्रेय प्राप्त है। बल्कि इस देश के आधुनिक युग के इतिहास में एक धर्मनेता से कहीं अधिक एक महान् समाज-सुधारक ही के रूप में उनकी ख्याति रहेगी। वह सन् १८७० ई० में कुछ समय के लिए विलायत भी हो आए थे। वहाँ अपनी असाधारण वक्तृत्वशक्ति द्वारा भारत की सामाजिक, धार्मिक और राजनीतिक परिस्थिति पर गम्भीर रूप से प्रकाश डालकर उन्होंने इस देश के प्रति पश्चिम की निगाह खींचने का स्तुत्य प्रयास किया था। जब वह वहाँ से वापस लौटे तो 'इंडियन रिफार्म एसोसिएशन' के नाम से एक समाज-सुधारक संस्था की स्थापना कर, उन्होंने विविध क्षेत्रों में सुधार का भारी बोझ उठाया। वस्तुतः उनके सुधार के हाथ से समाज का कोई भी अंग अछूता न बच सका ! उन्होंने ही इस संस्था के तत्त्वावधान में 'मुलभ समाचार' नामक एक पैसे का

सबसे पहला बँगला साप्ताहिक और 'मद ना गरल' नामक एक मद्य-निषेधक मासिक पत्र निकाला। उन्होंने शराबखोरी और अन्य दुर्व्यसनों के खिलाफ एक जोरदार आन्दोलन का सूत्रपात किया। स्त्री-शिक्षा के लिए भी कदम बढ़ाकर एक गर्ल्स-स्कूल प्रस्थापित किया। युवकों में जागृति पैदा करने के लिए 'बैंड आफ होप' नामक एक मडल कायम किया। गरीबों के लिए धर्मार्थ औषधि-वितरण का भी सार्वजनिक रूप से प्रवर्ध किया। 'कलकत्ता स्कूल' नामक एक विद्यालय को भी कई दिनों तक चलाया, जो आगे चलकर 'अलवर्ट कॉलेज' के नाम से मशहूर हुआ। दस्तकारी की शिक्षा के लिए एक 'इंडस्ट्रियल स्कूल' और श्रमिकों के लाभार्थ एक 'मजदूर संस्था' को जन्म दिया। इनके अलावा 'अलवर्ट इस्टीट्यूट', 'विक्टोरिया कॉलेज', 'भारत-आश्रम', 'ब्राह्म निकेतन' आदि-आदि न जाने कितनी ही अन्य सामाजिक संस्थाओं के निर्माण में भी उन्होंने हाथ लगाया, जिनका कि पूरा विवरण देने के लिए यहाँ पर्याप्त स्थान ही नहीं है।

'ब्राह्म मेरेज ऐक्ट'

परन्तु स्थायी महत्त्व और मूल्य की दृष्टि से उनके हाथों जो सबसे स्मरणीय सुधार-कार्य हुआ, वह था सन् १८७२ ई० का सुप्रसिद्ध 'विवाह कानून' (ब्राह्म मेरेज ऐक्ट—३), जिसके निर्माण में उन्होंने विशेष रूप से योग दिया था। इस कानून के द्वारा बालविवाह की प्रथा मिटाने, बहुविवाह को अपराध करार देने और विधवा-विवाह तथा अतर्जतीय विवाह को बढ़ावा देने में काफी हद तक सहायता पहुँची थी। वस्तुतः राममोहनराय की तरह केशव भी स्त्रियों के एक महान् हितैषी थे और अपने सार्वजनिक जीवन के आरम्भ ही से महिलाओं के उत्थान के सवध में उन्होंने काफी प्रयास किया था। उन्होंने पंडित ईश्वरचन्द्र विद्यासागर द्वारा उठाए गए विधवा-विवाह सवधी आंदोलन का डटकर समर्थन किया था, यहाँ तक कि इस सवध में एक बार एक नाटक भी खेला था ! १८६३ ई० में 'वामावोधिनी' नामक एक स्त्रियोपयोगी मासिक पत्रिका भी उन्होंने निकालना शुरू किया था। उधर पर्दा-प्रथा को तोड़ने के प्रयास में तो, जैसा कि पिछले पृष्ठों में कहा जा चुका है, पहले-पहल अपनी धर्मपत्नी को बाहर लाते समय उन्हें अपने परिवार

के हाथों घर से बाहर निकाल दिए जाने तक का दण्ड भुगतना पड़ा था !

धर्म और समाज की भाँति साहित्य के क्षेत्र में भी अपनी वारणी और लेखनी के प्रसाद के रूप में वह एक स्थायी संपत्ति हमें दे गए । इसका साक्षी उनके द्वारा बँगला और अग्रेजी में रचित वह विशाल वाङ्मय है, जिसमें उनकी समस्त वक्तृताएँ और लेखादि सगृहीत हैं । केशव की भाषा अत्यन्त सरल साथ ही भावना के रस में ऐसी पगो हुई-सी रहती थी कि सुननेवालों को उसमें काव्य का-सा आनन्द आने लगता था । तभी तो उनकी मधुर वारणी का रसास्वादन करने के हेतु बकिमचन्द्र चटर्जी जैसे साहित्य-महारथी और विवेकानन्द जैसे उद्भट विचारक भी कभी-कभी उनके श्रोताओं की मडली में बिना बुलाए ही बैठे देखे जाते थे ! अपने जीवन के अंतिम दिनों में 'नवसंहिता' और 'जीवनवेद' नामक दो महत्त्वपूर्ण रचनाएँ उन्होंने प्रकाशित की थी । उनमें उनके व्यक्तित्व और विचारों की अच्छी झलक हमें देखने को मिल सकती है । इनके अलावा उनकी वक्तृताएँ भी साहित्य की एक स्थायी संपत्ति हैं । विवेकानन्द के व्याख्यानों की तरह युवकों के लिए नवप्रेरणा की प्रचुर सामग्री उनमें पाई जा सकती है ।

‘कूचबिहार-प्रसंग’, ‘द्वितीय विभाजन’ और अंत

यह हमारा बहुत बड़ा दुर्भाग्य था कि इस भूमि के अन्य अनेक महान् सपूतों की भाँति यह असाधारण प्रतिभाशाली लोकनायक भी अधिक काल तक हमारे बीच जीवित न रह सका । उसने केवल ४६ वर्ष की आयु ही में ८ जनवरी, १८८४ ई०, के दिन मदा के लिए अपनी आत्मा मँद ली । उसकी इस आकस्मिक मृत्यु का मुख्य कारण उसके जीवन के अन्तिम दिनों में कूचबिहार के महाराजों के साथ उसकी एक अल्पवयस्का कन्या के विवाह के फलस्वरूप ब्राह्म समाज में उठनेवाले एक घोर विरोधी आन्दोलन तथा उसी के परिणामस्वरूप ‘साधारण ब्राह्म समाज’ के रूप में अनेक असंतुष्ट ब्राह्म उपासकों के उसमें अलग हो जाने की वह मुख्यात घटना थी, जिसने कि उसके हृदय को एक असामान्य आघात पहुँचाकर मानों टुक-टुक कर दिया था । वह घटना क्योंकि घटी और किस प्रकार ब्राह्म समाज के इस ‘द्वितीय विभाजन’ के

वाद प्रतापचन्द्र मजूमदार, आनन्दमोहन बोस, शिवनाथ शास्त्री आदि अपने भावी नेताओं के तत्त्वावधान में इस महान् सस्था की नौका आगे बढ़कर आज के युग तक आ पाई, यह हमारे प्रस्तुत प्रसंग से परे का विषय है । अतएव उसका विवरण देने की यहाँ आवश्यकता नहीं !

महान् विश्व-धर्मों

महामना केशव का परिचय सक्षेप में यही कहकर दिया जा सकता है कि वह थे अपने युग के समाज-सुधार तथा धर्म-संस्कार विषयक प्रयासों के एक प्रधान अग्रणी, अपने देश के सांस्कृतिक उत्थान में योग देनेवाले एक क्रांतिकारी चिन्तक तथा अपने युग के एक असाधारण वक्ता, लेखक, साधक और सत । वह समन्वय का सदेश सुनानेवाले एक महान् मानवधर्मी थे, जिन्होंने कि पूर्व और पश्चिम को एक तारतम्य में जोड़ देने का ही जीवनभर प्रयाम किया ।* अपने वाद आनेवाले महामनस्वी विवेकानन्द की भाँति वह भी धर्म ही को सामाजिक सुधार की मूल भित्ति बना देने के लिए उत्कटित थे । जीवनभर यही महान् लक्ष्य उन्होंने अपने सामने रक्खा कि मनुष्य के साधारण दैनिक लोक-जीवन में पुनः धर्म की प्राणप्रतिष्ठा हो । दुर्भाग्यवश उनके अपने युग ने उनके ध्येय की ऊँचाई को ठीक से समझा ही नहीं । परन्तु निश्चय ही एक दिन वह भी आगया, जबकि ने केवल यह देश ही बल्कि सारा संसार समन्वय और एकता के इस पैगम्बर की शिक्षा का यथार्थ मूल्य अंकित और उसके आदर्श को अपनाने की कांक्षित करेगा !

*विश्व-धर्मों केशवचन्द्र की सार्वदेशिकता और संसार के सभी महान् धर्मों के प्रति उनकी आस्था का बहुत-कुछ आभास हमें इस बात में मिलता है कि उन्होंने अपने चार चुने हुए शिष्यों को विशेष रूप से संसार के चार विभिन्न महान् धर्मों का अध्ययन करने के लिए तैयार किया था— १. हिन्दू धर्म के लिए उपाध्याय गोड़ गोविन्दराय को, जिन्होंने गीता पर एक संस्कृत टीका और भगवान् श्रीकृष्ण की एक सुन्दर जीवनी लिखी थी; २. बौद्ध धर्म के लिए साधु अघोरनाथ को, जिन्होंने बुद्ध का एक जीवन-चरित्र तैयार किया; ३. इस्लाम के लिए भाई गिरीशचन्द्र सेन को, जिन्होंने कुरान का अनुवाद कर हजरत मुहम्मद की जीवनी लिखी; और ४. ईसाई मत के लिए प्रतापचन्द्र मजूमदार को, जिन्होंने “ओरिएण्टल क्राइस्ट” नामक प्रसिद्ध पुस्तक लिखी !

जि

न दिनों हमारे सांस्कृतिक वातावरण में एक ओर श्रीरामकृष्ण परमहंस जैसे महासाधक और दूसरी ओर ऋषि दयानन्द, महर्षि देवेन्द्रनाथ और केशवचन्द्र सेन जैसे सुधारकों के प्रादुर्भाव से पुनः नवजीवन का स्वर स्पष्ट होने लगा था, रत्न-प्रसूता भारतभूमि की कोख से उन्ही दिनों एक और प्रातःस्मरणीय महापुरुष ने जन्म लिया। इस अप्रतिम महामनीषि की दिव्य देन की आभा से हमारा आंगन फिर से एक बार उसी प्रकार जगमगा उठा, जिस प्रकार बारह सौ वर्ष पूर्व अन्य एक तपोपुत्र लोकशिक्षक-शकर—को पाकर दमक उठा था। उन्ही की तरह इस महामनस्वी की वैखरी वाणी ने भी अल्पकाल में वह चमत्कारपूर्ण कार्य कर दिखाया, जो साधारण जनो द्वारा संभवतः शताब्दियों तक प्रयत्न करने पर भी संपन्न नहीं किया जा सकता था। उसने अपनी गगनभेदी हुकार द्वारा न केवल इस देश के ही कोने-कोने में प्रत्युत सुदूर अमेरिका और योरोप तक वेदों और उपनिषदों के प्राचीन आत्मज्ञान का सदेश गुंजा दिया। साथ ही अपनी ज्वलन्त शिक्षा की चिनगारियों से इस देश की प्रसुप्त आत्मा के अतराल में क्रान्ति के स्फुल्लिङ्ग जगाकर, परोक्ष भाव से उसने हमारे राष्ट्रीय पुनरुत्थान के यज्ञ में भी एक प्रखर योग दिया। यदि यह कहा जाय कि धर्म और दर्शन की भांति राजनीति के क्षेत्र में भी वह हमारा एक प्रमुख शिक्षागुरु था, तो इस कथन में कोई अत्युक्ति न होगी !

उसकी 'उठो, जागो' की ललकार ने हमें अपने सामयिक राष्ट्रीय कर्तव्यों को पहचानने और इस हीनावस्था से ऊपर उठने की एक मबल प्रेरणा दी। और उसके उस वेदान्त-विषयक महापाठ ने तो भौतिकवाद की भूलभुलैया में फँसे हुए सारे ससार के लिए मुक्ति का एक ऐसा मार्ग निदर्शित कर दिया, जिसे अपना लेने पर मनुष्य-मात्र के लिए फिर अन्य किसी राह की खोजने की आवश्यकता ही नहीं रह जाती ! इस प्रकार वह हमारे बीच एक महान् देवदूत के रूप में उतरा और आज की इस मोह-निद्रा से शकशोरकर वह हमें सुना गया फिर से वही अनादि-



विवेकानन्द

सिद्ध कर्मसंदेश, जो पाँच हजार वर्ष पूर्व समराङ्गण में हथियार फेंक देनेवाले विषादयुक्त अर्जुन के प्रति उपदेश के वहाने स्वयं जगद्गुरु भगवान् श्रीकृष्ण

ने अपने श्रीमुख से कभी हमें सुनाया था !
इस महापुरुष का असली नाम तो था 'नरेन्द्रनाथ दत्त', किन्तु आज विरला ही कोई इस नाम से उसे पहचान पाएगा ! कारण, जिस प्रकार उसका पूर्ववर्ती काठियावाड़ का वह क्रान्तदर्शी ब्राह्मण 'मूलशकर'

आज के दिन केवल 'दयानन्द' ही के नाम से पहचाना और याद किया जाता है, हमारी जागृति का यह दूसरा महान् नेता भी उसी तरह अपने सन्यास-काल के नाम—'विवेकानन्द'—द्वारा ही अधिक प्रसिद्ध है। उसका जन्म १२ जनवरी, सन् १८६३ ई०, के दिन कलकत्ते के एक सुसंस्कृत बंगाली कायस्थ (क्षत्रिय) परिवार में हुआ था। अतः तिथिक्रम की दृष्टि से वह भी उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्धकाल के उस चिर-स्मरणीय दशान्वद की ही उपज था, जिसमें क्रमशः रवीन्द्रनाथ ठाकुर, मोतीलाल नेहरू, प्रफुल्लचन्द्र राय, मदनमोहन मालवीय, गापालकृष्ण गोखले, मोहनदास करमचन्द गांधी और चिन्मयन दाम आदि हमारे इतिहास के आधुनिक पर्व के अन्य अनेक लोकनायक भी पैदा हुए थे।

माता-पिता और दादा की देन

नरेन्द्र के पिता—विश्वनाथ दत्त—नई गंगनी के एक प्रगतिशील व्यक्ति थे। उन पर पाश्चात्य बुद्धिवादी विचारधारा और तत्कालीन युवक-समाज के विशेष श्रद्धाभाजन मुप्रसिद्ध तत्त्वदर्शी हर्बर्ट स्पेन्सर का विशेष रूप से प्रभाव जमा हुआ था। इसी प्रकार उसकी मा भी सुनीक्षण व्यावहारिक बुद्धि की एक सुसंस्कृत महिला थी। प्रत्येक भारतीय स्त्री की भाँति हृदय में धर्मग्रायणा होने हुए भी वह कटुपथियों की तरह धर्मान्ध कदापि न थी। वह थी एक सच्ची क्षत्राणी की भाँति प्रखर आत्माभिमान, चरित्र-बल और कर्तव्यनिष्ठा की एक ऐसी जीती-जागती प्रतिमा कि नरेन्द्र वाद को सदैव ही यह कहता रहा कि 'यदि मेरे जीवन और कार्य के पीछे चिरन्तन रूप से प्रेरणा देने रहनेवाली कोई शक्ति रही है, तो वह है मेरी माँ।'।

इस प्रकार की उच्च सांस्कृतिक पारिवारिक पृष्ठभूमि में पनपकर हमारा यह उद्भट चरित्रनायक आरंभ ही से मानो एक विशिष्ट प्रकार के सुनिश्चित सचि में ढल गया। वह एक ओर तो पिता के प्रखर बुद्धिवाद के रंग में तब से शिख तक रंगकर एक विशिष्ट तत्त्वचिन्तक और दिग्गज तार्किक बन गया। दूसरी ओर माता के प्रबल क्षात्र संस्कारों को लेकर नैतिक शक्ति, माहम और कर्मठता की भित्ति पर स्थापित एक ऐसे वज्रतुल्य चरित्र के ढाँचे में सदा के लिए गठित हो गया कि जीवनभर कभी भी कोई उसे अपने अनस्तन

के विवेक की राह से न डिगा सका! परन्तु इन दोनों ही जन्मजात सांस्कारिक प्रभावों से भी कहीं गहरा और युगान्तरकारी प्रभाव, जो कि उसके चरित्र पर पड़ा, सभवतः उसके निवृत्तिमार्गी पितामह (दादा) के द्वारा बाँट गये गुप्त संस्कार-बीजों का था। कहते हैं, यह महापुरुष पच्चीस वर्ष की अल्पायु ही में स्त्री-पुत्र, धन-वैभव आदि में किनारा कसकर विधिवत् सन्यासी बन चुके थे। निश्चय ही उन्हीं के प्रचलित पैतृक संस्कारों में परोक्ष रूप में प्रभावित होकर ही अन में 'नरेन्द्र' आध्यात्मिकता के उस धधकते कल्याण-मार्ग का राही बना, जिसने एक दिन उसे बदलकर 'विवेकानन्द' में परिणत कर दिया। किन्तु इसके पहले कि हम उसके जीवन की उस महान् परिणति की अमर कहानी का पृष्ठ खोलें, आइए, संक्षेप में उसके विकास की आरंभिक मोड़ियों की भी एक झल्लि देख लें, ताकि हम यह जान सकें कि तप और त्याग की आँच में लगातार कितने दिनों तक अपने आपको तपाने के बाद यह महामनस्वी अन में स्वस्वस्तिक की उस ऊँचाई तक उठ पाया, जिस पर आज हम इतिहास में उसे प्रतिष्ठित देखने हें!

असाधारण व्यक्तित्व

नरेन्द्र का बचपन और उसकी युवावस्था का आरंभकाल, उसके महान् चरित्र-लेखक रोम्या रोलाँ के शब्दों में, योग्य के पुनरुज्जीवत-युग के किसी कलाकार राजपुत्र के जीवन-प्रभात की याद दिलानेवाला एक रोमांचक काल था। यह अद्भुत प्रतिभावान् युवक कुछ तो अपने जन्मजात ऊँच-पूरे सुडोल क्षात्र शरीर तथा तेजस्वी आकृति के कारण, और कुछ अपने महामेधावी मस्तिष्क एवं सभी विद्याओं और कलाओं में अपनी असामान्य प्रवीणता की दृष्टि में, जन्म ही से एक सुसंस्कृत आदर्श राजकुमार जैसा ही प्रतीत होता था। उसके व्यक्तित्व में ऐसा कुछ जाहूँ और बल था कि न केवल उसके अपने सहापाठी ही प्रत्युत कलकत्ते के समसामयिक समाज की उठती हुई पीढ़ी के अधिकांश तरुण उसे अपना स्वाभाविक नेता मानते थे और उसमें लोहा लेते हुए भय खाते थे! वह कुश्नी-व्यायाम, घुड़सवारी, तैरने, नाव खेले, गाने-बजाने, नाचने और अभिनय करने की कलाओं से लेकर साहित्य, काव्य, गणित, विज्ञान, इतिहास,

दर्शन आदि सभी विद्याओं में समान रूप से पार-
ङ्गत था। वह वाद-विवाद तथा तर्क-वितर्क करने में
तो ऐसा निपुण था कि उसकी युक्तियों की वीर्यशक्ति के
आगे दिग्गज ताकिक भी घुटने टेक देते थे।

किंतु इतना सब-कुछ होने पर भी अपने अत-
स्तल की गहराई में वह आत्म-सुख का अनुभव
नहीं कर पाता था। वह निरंतर उद्विग्न और
अशांत ही रहता। कारण, कोरी दिमागी उधेड-
बुन ही में सतुष्ट हो जानेवाला व्यक्ति वह न
था। वह था ढाई हजार वर्ष पूर्व के कपिलवस्तु
के राजपुत्र सिद्धार्थ की भाँति एक अतृप्त आध्या-
त्मिक प्यास, एक अलौकिक जिज्ञासा और आत्मा-
परमात्मा, लोक-परलोक तथा जीवन-मुक्ति विषयक
एक अनिवर्चनीय हूक में निरन्तर आन्दोलित-
विलोडित एक सच्चा मत्प्रेयोधक। वह इस अनवरत
गतिशील ससृति में परे के शाश्वत तत्त्व का रहस्य
जानने के लिए वैसा ही आतुर और व्यग्र था, जैसे
कोई भक्त अपने भगवान् से मिलने के लिए हो।

संशयवाद के दलदल में

हाँ, यह एक बात उसमें अवश्य थी कि आरम्भ ही
से गहराई के साथ विचार-स्वातन्त्र्य और बुद्धिवादी
तर्क-वितर्क के रङ्ग में रंग जाने के कारण कोरी
श्रद्धा या विश्वास ही के बल पर किसी भी मत
विशेष को स्वीकार कर लेने को वह सहमत नहीं
हो पाता था। तभी तो विविध धर्मों की उसने डट-
कर छानबीन की। घटो एकान्त मनन-चिन्तन और
ध्यान-माधन द्वारा अपना हृदय-मन्थन किया। तरह-
तरह की धार्मिक साधनाओं की कसौटी पर अपने
आपको कसने का प्रयास किया। पूर्व और पश्चिम
की न जाने कितनी तत्त्व-सबधी पोथियाँ उलटी-
पलटी। ममसामयिक पण्डितों से तर्क-युद्ध में
डटकर लगातार लोहा लिया। यहाँ तक कि हर्वर्ट
स्पेंसर जैसे दार्शनिक के साथ भी उसने पत्रव्यवहार
किया और सुप्रसिद्ध ब्राह्म समाज एवं उसके महान्
कर्णधार केशवचन्द्र सेन का भी द्वार खटखटायो।
पर इतने पर भी जब इस तरुण जिज्ञासु की आध्या-
त्मिक शकाओं और सप्रश्नों का समाधान नहीं हो
पाया, तब धीरे-धीरे आस्तिकता और श्रद्धा के मार्ग
से एकदम किनारा कसकर उमने घोर संशयवाद और
नास्तिकता के गर्त की ओर ही तेजी से उग भरना
शुरू किया।

श्रीरामकृष्ण से भेंट

किंतु नियति का विधान तो कुछ और ही था !
कहने हैं, इन्हीं दिनों दैवयोग से अनायाम ही एक
दिन कलकत्ते के अपने एक मित्र के घर किसी धर्मो-
त्सव के अवसर पर इस तरुण विद्रोही की दक्षिण-
श्वर के सत—श्रीरामकृष्ण—से भेंट हो गई।
उस आकस्मिक सम्मिलन के साथ ही मानो उसके
जीवन-पथ का अवरुद्ध द्वार खुल गया। वह गायन
की कला में तो प्रवीण था ही। अतएव उस दिन
भी सबके आग्रह करने पर उसने वहाँ कुछ गा
मुनाया। उसके उस मधुर संगीत का भावमूर्ति
रामकृष्ण के सेवेदनशील हृदय पर ऐसा गहरा
प्रभाव पड़ा कि आनन्दविह्वल हो वह लोटपाट-से
हो गए। वही कुछ धर्मों के लिए उनकी समाधि
तक लग गई।

वस्तुतः उस पहले-पहल के क्षणिक ससर्ग ही में
उन्होंने इस तेजस्वी युवक के व्यक्तित्व की ओट में
छिपे हुए अपने भावी महान् शिष्य और उत्तराधिकारी
को पहचान लिया था। तभी तो मानो शीघ्र ही उसे
अपनी परिधि में खींच ले आने का निश्चय कर,
चलते समय वह उसे अत्यन्त आग्रहपूर्वक दक्षिणेश्वर
आकर फिर मिलने का हार्दिक निमन्त्रण दे गए।

यह निमन्त्रण क्या था, मानो किसी भूलभूलैया में
भटकते हुए बटोही के लिए उलझन की स्थिति से
बाहर निकलने के वास्तविक मार्ग के निर्देश का एक
आशीर्वाद-सूचक वरदान था, यद्यपि स्वयं नरेन्द्र को
उसके महत्त्व और मूल्य का अभी तनिक भी
भान न था। वह तो मन्त्र पूछो तो उस दिन के
उस आकस्मिक सम्मिलन के समय इस अर्द्धविश्लिप्त-
में अशिक्षित ब्राह्मण के प्रति जरा भी आकर्षित
नहीं हो पाया था। और उसकी अपनी प्रखर आलो-
चनात्मक बुद्धि की तर्क-दृष्टि में भला वह अति-
भावुकता का जीता-जागता नमूना नरेन्द्र को जंचता
भी तो कैसे? परन्तु विधि का विधान ही तो था
कि लाख अनिच्छा होने पर भी कुछ ही दिन बाद
न जाने किस गुप्त अलौकिक शक्ति के जादू से मानो
बरबस खिचकर, हमारे इस तरुण चरितनायक को
एक दिन उस सत के द्वार पर जाना ही पड़ा। वह
अपने कुछ सहपाठियों के साथ आखिर एक दिन
दक्षिणेश्वर जा ही पहुँचा और इस बार की मुलाकात
में उस पगले साधु के अनेक व्यक्तित्व की जो झलक

उसे देखने को मिली, उससे महज ही उसकी छिपी हुई महानता के प्रति अपने मन में एक विस्मययुक्त सम्मान का भाव लाये बिना वह न रह सका !

श्रीरामकृष्ण का अनुठा बर्ताव

श्रीरामकृष्ण तो मानो अपने इस भावी शिष्य की प्रतीक्षा ही में थे, अतएव उन्होंने अपना हृदय का पट खोल अतस्तल का मारा स्नेह उस पर उड़ेल दिया ! कहते हैं, इस बार भी जब उनके अत्यधिक अनुरोध करने पर उसने अपने मधुर कण्ठ से कुछ गा सुनाया, तो पहले ही की तरह फिर मन्त्रमुग्ध-से हो वह कुछ समय के लिए समाधि में लीन हो गए। जब हाँस आया तो एकाएक उठकर हाथ पकड़ वह उसे मंदिर के उत्तरी बरामदे के एकान्त में लिवा ले गए। वहाँ एकबारगी ही आनंद के मारे आँसुओं की झड़ी-सी लगाकर वह बच्चों की तरह रोने लगे और ऐसी घनिष्टता के साथ, जैसे कि बरसों से उसे जानने-पहचानते रहे हो, कहने लगे—‘आह, तुमने आने में इतनी देर क्यों लगा दी ? क्यों निर्मम की तरह अपनी प्रतीक्षा में मुझे अब तक तडपाये रखा ? हाय, दूसरों की व्यर्थ की बकवास सुनते-सुनते मेरे कान कितने पक गए हैं ! कब से किसी योग्य व्यक्ति के उर में अपनी आन्तरिक अनुभूतियों का मर्म उँडेल देने के लिए मैं अकुला रहा हूँ ?’

नरेन्द्र जैसे नई रोशनी के बुद्धिवादी जीव के लिए इस प्रकार का अतिभावुकता का बर्ताव निश्चय ही गृचिकर नहीं हो सकना था। जब भावना के प्रवाह में रामकृष्ण उसे प्राचीन ‘नर-नारायण ऋषि’ का अवतार बताते हुए अलौकिकता के रंग में रंगी हुई और भी न जाने क्या-क्या बातें कह गए, तब तो नरेन्द्र इस अर्द्ध-विक्षिप्त जैसे गँवार साधु से शीघ्र ही पिण्ड छुड़ाकर वहाँ से भाग निकलने के लिए बेचैन हो उठा। उसे उस अपरिचित व्यक्ति का वह अयाचित स्नेह-प्रदर्शन बिल्कुल ही अच्छा न लगा !

‘हाँ, मैंने ईश्वर को अपनी आँखों से देखा है’

इसीलिए जब अंत में रामकृष्ण ने अनुनय-भरे स्वर में कहा कि ‘वचन दो कि शीघ्र ही फिर आकर मिलोगे और अब की बार अकेले ही,’ तो कहने को तो अपनी जान छुड़ाने के लिए उसने हामी भर ली, पर मच पूछो तो मन ही मन वह यही

निश्चय कर चुका था कि अब फिर कभी भूलकर भी इस पगले के पास तक नहीं फटकूँगा !

किन्तु इसी समय चलते-चलते इस कुतूहलभरे प्रश्न के उत्तर में कि ‘आखिर, आपने कभी अपनी आँखों से ईश्वर को प्रत्यक्ष देखा भी है,’ जब काली के उस पुजारी के मुँह से यह जवाब निकलते उसने मुना कि ‘हाँ, क्यों नहीं ! मैंने तो हूबहू वैसे ही उसे देखा है, जैसे इस समय अपने सामने तुम्हें देख रहा हूँ,’ तब तो उसकी अब तक की बातों को केवल पागल का प्रलाप समझनेवाला यह ताकिक आँखें फाड़कर विस्मय के साथ उसकी ओर देखे बिना न रह सका !

वस्तुतः ताकिक नरेन्द्र को अपनी अब तक की सारी छान-बीन में केवल यही एक आदमी आज पहले-पहल ऐसा मिला था, जो डके की चोट पर यह कहने का साहस रखता था कि ‘हाँ, मैंने ईश्वर को अपनी आँखों से प्रत्यक्ष देखा है और मेरी तरह जो कोई भी चाहे उसका साक्षात्कार कर सकता है !’

‘निश्चय ही ऐसा आदमी कोई मामूली आदमी नहीं हो सकता—उसके व्यक्तित्व में अवश्य ही महानता के बीज छिपे होने चाहिए,’ नरेन्द्र ने सोचा, और वह मन ही मन कहने लगा, ‘माना कि इस व्यक्ति का दिमाग ठीक नहीं है और वह सचमुच ही पागल है, फिर भी वह है महान् ही ! वह चाहे विक्षिप्त ही हो, फिर भी सम्मान ही के योग्य है !’ इस विचार के उदय होते ही उस महान् साधु के सरल निष्कपट व्यक्तित्व के आगे इस युवा जिज्ञासु का मस्तक अपने आप ही एक महजजात आदर के भाव से झुक गया !

श्रद्धा-मार्ग का पथिक

इसके बाद तो समय बीतते ज्यों-ज्यों वह उस सत के अगाध तपोबल और आध्यात्मिक तेज के दुर्द्धर्ष आकर्षण से खिचकर उसके अधिकाधिक निकट संपर्क में आता गया, त्यों-त्यों एक के बाद एक उसके अतस्तल की गुत्थियाँ अपने आप ही खलती गईं और उसकी तर्कबुद्धि की इमारत की एक-एक ईंट क्रमशः खिसकती चली गई। यहाँ तक कि एक दिन आया, जब स्वयं अपने ही हाथों उस कारागार-रूपी तर्कवितर्कमूलक शुष्क बुद्धिवाद के किले को तोड़कर यह तरुण सत्यार्थी अपने महान् गुरु की भाँति श्रद्धा-मार्ग का पथिक बन गया—वह एक सच्चे प्रज्ञावान् माधक एवं जानयोगी में परिणत हो

गया ! किन्तु उसका यह आध्यात्मिक कायापलट का क्रम एकबारगी ही सहज में सिद्ध हो गया हो, सो नहीं था ! वस्तुतः अपनी इस महान् परिणति के लिए नरेन्द्रनाथ को पूरे छः वर्ष तक अपने उद्भट शिक्षक के चरणों में बैठकर साधना का कठोर पाठ पढ़ना पड़ा एव स्वतः अपने साथ भी घोर सघर्ष करना पड़ा ।

गुरु-शिष्य का अलग-अलग ढाँचा

आरभ में तो एक-दूसरे से बिल्कुल विपरीत बौद्धिक साँचों में ढले हुए गुरु-शिष्य के मस्तिष्कों में मेल खाना एक कठिन समस्या बन गई । कारण, यदि एक था असीम श्रद्धा और भावना का साक्षात् अवतार, तो दूसरा मूर्तिमान् तर्क-वितर्क और बुद्धिजन्य ऊहापोह का ही प्रतीक था । एक साक्षात् पूर्व था, तो दूसरा था एकदम पश्चिम । एक भावविभोर भक्त था, तो दूसरा विशुद्ध ज्ञान का ही उपायक था । एक यदि काली की उस पाषाण-प्रतिमा ही में परम शक्ति की अनुभूति कर सगुण और निर्गुण, साकार और निराकार दानों ही रूपों में परमात्मा का प्रत्यक्ष साक्षात्कार करने का दावा करता था, तो दूसरे को यथार्थतः ईश्वर की सत्ता ही में प्रबल अविश्वास और सदेह था !

फिर भी न जाने किस अज्ञात प्रेरणा से विवश हो लोहे और चुम्बक की तरह एक-दूसरे से बंधकर वे परस्पर खिंचे चले जा रहे थे ! इसीलिए जब उद्धत शिष्य अकाट्य युक्तियों की मानों बौद्ध्यार-सी छोड़ता हुआ यहाँ तक कह बैठता कि 'आखिर इस बात का ही क्या सबूत है कि आपकी ये सारी अनुभूतियाँ केवल आपके अस्वस्थ मस्तिष्क ही की उपज मात्र या विक्षिप्तावस्था की निरी भ्रान्ति नहीं है,' तो बेचारे गमकृष्ण मन ही मन भगवती से केवल यह प्रार्थना भर करके रह जाते थे—'माँ, क्यों नहीं तुम नरेन्द्र को अपनी मोहिनी माया का भी कुछ प्रसाद दे देती, ताकि उसका यह बुद्धिजन्य मस्तिष्क का बुखार कुछ शान्त हो जाय ?'

'शिव-शिव' की रट

और शीघ्र ही वह समय आया, जब नरेन्द्र का वह आत्यन्तिक तर्कवादिता का ज्वर शांत हो गया । यही नहीं, रामकृष्ण की भाँति स्वयं उस पर भी अब उस विचित्र भावावेग का रङ्ग गहराई के साथ चढ़ने लगा, जिसे वह अब तक केवल विक्षिप्त दिमाग की उपज या मात्र पागलपन बताता आ रहा था ! कहते हैं, एक दिन

वह अपने एक साथी के आगे मुँह बना-बनाकर व्यङ्ग्य में ईश्वर की सर्वव्यापकता-सम्बन्धी भावना की खिल्ली उड़ाते हुए यह कहकर ठठोली कर रहा था कि 'देखो जी, यह घड़ा भी ईश्वर है और ये मक्खियाँ भी ईश्वर हैं,' इतने में अचानक पास के एक कमरे से निकलकर अर्द्ध-चेतनावस्था की-सी दशा में गमकृष्ण वहाँ आ पहुँचे । उन्होंने नरेन्द्र को छू लिया और बस वैसे ही उसके मस्तिष्क में एक ऐसा ववडर-सा उमड़ पड़ा कि अब जिधर भी वह अपनी आँखें दौड़ाता, उसे सब-कुछ केवल ईश्वरमय ही दिखाई देता था ! उसे हर चीज में ईश्वर ही ईश्वर की प्रतीति होती थी ! इस दशा में वह लगातार कई दिनों तक बना रहा । इसके बाद भी कुछ दिनों तक पागलों की तरह केवल 'शिव-शिव' ही की रट वह लगाना रहा !

सच तो यह था कि अपने गुरु की उस धक्कती हुई आध्यात्मिकता की आँच के आगे उसका वह फौलादी मस्तिष्क अब मोम की तरह नरम पड़कर क्रमशः उन्हीं के प्रतिबिम्ब में प्रत्याङ्कित होने लगा था । जीवन में पहले-पहल वह इस गम्भीर सत्य की सार्थकता का अनुभव करने लगा था कि मानवीय तर्क-बुद्धि की परिधि से परे भी जानने और अनुभव करने योग्य एक ज्वाज्वल्यमान वस्तु है, किन्तु उस अतीन्द्रिय वस्तु के ज्ञान के लिए हमारे साधारण बुद्धिगत साधन ही पर्याप्त नहीं हैं !

इस नवीन आध्यात्मिक अनुभूति के प्रकाश में जब नरेन्द्र ने अपने उस महान् पथप्रदर्शक की ऊँचाई को नापने का प्रयास किया तो यह देखकर एकबारगी ही उसे दङ्ग रह जाना पड़ा कि बाहरी रङ्ग-ढङ्ग से केवल विशुद्ध भक्त जैसा दिखाई देनेवाला वह सत यथार्थ में अपने व्यक्तित्व की तह में छिपा हुआ एक पहुँचा हुआ कातदर्शी जानी और दिव्यदृष्टिप्राप्त त्रिकालज्ञ ऋषि था !

पारिवारिक संकट :: गृह-त्याग का निश्चय

इसी बीच सन् १८८४ ई० में पिता की असा-मयिक मृत्यु तथा उनके द्वारा छोड़े गए भारी अर्थ-संकट के फलस्वरूप नरेन्द्रनाथ के जीवन में पारिवारिक समस्याओं का एक जजाल उठ खड़ा हुआ । इस संकट ने ससार की वस्तुस्थिति का यथार्थ साक्षात्कार कराकर और भी अधिक त्वरा के साथ अपने निर्धारित कल्याण-पथ पर बढ़ चलने के लिए उसे उभाड़ दिया । कहते हैं, महीनो यहाँ से वहाँ

जुतियाँ चटकाते हुए काम की तलाश करते रहने पर भी इस महामेधावी को कलकत्ते जैसी उस विशाल नगरी में सामान्य भरण-पोषण करने योग्य एक स्थायी नौकरी तक न मिल सकी ! एक दिन तो बिना खाए-पिए ही दिन भर की दौड़-धूप से चर्च हो, ज्वर की दशा में वह पसीने से लथपथ एक सड़क के किनारे चलते-चलते लुढ़क पड़ा । उस समय अपने चारों ओर केवल अन्याय, असमानता, निराशा और दुःख-दैन्य का ही घटाटोप छाया देखकर आत्मग्लानि से उसका चित्त लवालव भर गया !

किन्तु आत्म-वेदना की उस चरम अवस्था ही में अनायास ही मानो उसके अतर्पट के किवाड़ खुल गए और उसी क्षण एकवारगी ही उसके हृदय के आंगन में आध्यात्मिकता का एक ऐसा अपूर्व ज्वार-मा उमड़ पड़ा कि उसमें सराबोर हो वह अपने उस दुःख-दैन्य को सर्वथा भूल गया । उसे ऐसा प्रतीत हुआ मानो उसके अतस्तल का वह परदा, जो अपने आवरण में उसकी आत्मा को अब तक प्रगाढ़ रूप से ढाँपे हुए था, एकवारगी ही फट पड़ा हो । जान पड़ा मानो खाए हुए चक्षु पाकर एकाएक वह अधिकार से पुनः प्रकाश में आ गया हो । साथ ही सूर्य की प्रखर रश्मियों के आगे विखर पड़नेवाली मेघमाला की तरह उसकी अब तक की सारी शकाएँ और समस्याएँ भी उसे छिन्न-भिन्न होति जान पड़ी । उसे अब अपना मार्ग और ध्रुव-बिन्दु दोनों ही एकदम स्पष्ट और मुनिश्चित-से सामने झलकते हुए दिखाई देने लगे । कहने है, घर पहुँचकर उस दिन की सारी रात उसने ध्यान और मनन-चिन्तन ही में बिता दी । मुवह होते-होते तो इस दुःखमूलक ससार से सदा के लिए किनारा कसकर अपने निवृत्तिमार्गी पितामह की भाँति गेरुआ पहन विजन की राह लेने का दृढ़ सकल्प वह अपने मन में कर चुका था !

निर्विकल्प समाधि

किन्तु उसके महान् गुरु उसे अभी इतनी जल्दी मय्यास ग्रहण करने की अनुमति देने को तैयार न हुए । उन्होंने कहा—'मैं जानता हूँ कि तुम गृहस्थ-जीवन में नहीं रहने के, फिर भी कम-से-कम मेरी ही खातिर, जब तक कि मैं मौजूद हूँ, अभी उससे तुम किनारा मत कसो ।' और अपने परिवार के अर्थ-संकट के निवारण के लिए उन्होंने उसमें भगवती

महाशक्ति की आराधना करने का अनुरोध किया । लेकिन नरेन्द्र का तो इस समय तक वस्तुतः ऐसा कायापलट-मा हो गया था कि तीन बार वह गुरु के इस आग्रह का पालन करने के लिए उस जगद्गानी के सामने गया और तीनों ही बार अपने दुःख-दर्द के छुटकारे के लिए प्रार्थना करना भूलकर आत्म-विस्मृत हो केवल उस महामाया के दर्शन से प्राप्त चिदानन्द में ही वह लवलीन हो गया ।

उस दिन से मानो उसकी सारी जीवन-दिशा ही पलट गई । अब उसने संपूर्ण रूप से श्रीरामकृष्ण के ही हाथों में अपने आपको समर्पित कर दिया । कालान्तर में गुरु के साथ उसका ऐसा एकीकरण हो गया कि वे दोनों अब प्रायः एक में दूसरे का प्रतिबिम्ब देखने लगे । इस प्रकार एक के बाद एक साधन-पथ की मजिरे पार करते हुए, वह भी रामकृष्ण की भाँति निर्विकल्प समाधि की उस उच्च भूमिका तक ऊपर उठ गया, जहाँ तक विरले ही कोई भाग्यशाली कभी पहुँच पाते हैं । उस तुरीयावस्था के ब्रह्मानन्द में निमग्न हो जीवन भर अलख जगाने रहने का ही सकल्प अब उसने मन ही मन कर लिया ।

‘नरेन्द्र’ से ‘विवेकानन्द’

किन्तु श्रीरामकृष्ण तो अपने इस असाधारण शिष्य में इससे कहीं अधिक की आशा लगाए हुए थे ! वह प्रायः कहा करते—‘साधारण जन दुनियाँ को राह दिखाने का भार लेते हुए भय खाते हैं । उदाहरण के लिए, एक मामूली-सा तिनका किसी-न-किसी भाँति केवल स्वयं ही तैरता रहता है । यदि एक छोटी-सी चिड़िया भी उस पर बैठ जाय, तो वह तुरन्त डूब जाता है । परन्तु नरेन्द्र की बात और है । वह गंगा के वक्ष-स्थल पर बाढ़ के समय तैरते हुए उन विशाल वृक्षों के तनो जैसा है, जो अपने ऊपर न जाने कितने असहाय प्राणियों को लिए रहते हैं !’

इसीलिए जब कर्मश्रेष्ठ से भागने की नरेन्द्र की प्रवृत्ति का उन्हें आभास मिला, तो फटकारते हुए उन्होंने कहा—‘छि, छि, मैं तो सोचता था कि तुम उस महान् वटवृक्ष के समान होगे, जिसकी छाँह में हजारों थक-माँदे प्राणी आ-आकर शरण लेंगे । किन्तु इसके विपरीत तुम एक स्वार्थी की तरह केवल अपनी ही निजी हित-साधना में लगे रहना चाहते हो । बेटा, छोड़ो इन तुच्छ बातों को ! वस्तुतः श्रीरामकृष्ण नरेन्द्र को जगत् के कल्याण

के हेतु वैसे ही अपना जीवन उत्सर्ग करने के लिए प्रेरित करना चाहते थे, जैसा कि उन्हीं के सामयिक विरजानन्द ने अपने महान् गिष्य दयानन्द को किया था ।

यह दोहराने की आवश्यकता नहीं कि जिस घड़ी उनका वह आदेश नरेन्द्रनाथ को मिला, तब से उसके जीवन का एक-एक क्षण अपने गुरु के उस महान् उद्देश्य की पूर्ति के प्रयास ही में बीता ! उसने आजीवन वेदान्त के दिव्य सदेश द्वारा भौतिकवाद की भृगुमरीचिका में लुभाए हुए मानव को आत्मस्वरूप का भान करने का महाव्रत ले लिया । श्रीगमकृष्ण के महासमाधिस्थ होने के कुछ ही दिनों के बाद, अपने कतिपय उत्साही माथियों सहित विधिवत् सन्यास ग्रहण कर उसने कापाय (गेरुआ वस्त्र) धारण कर लिया । इस प्रकार पच्चीस वर्ष की अल्पायु ही में धूम-धूमकर दुनिया को जगानेवाले एक परिव्राजक का जीवन अपनाकर यह तरुण साधक नरेन्द्र से विवेकानन्द के रूप में परिणत हो गया !

देश-भ्रमण

अब वस्तुतः उसे कुछ अधिक सोचना न था—केवल ससार ही को पाठ पढ़ाकर अपने जीवन के मुख्य अनुष्ठान को पूरा करने का कार्य उसके लिए बाँध रहा गया था । उसी की तैयारी में अपने सन्यास-काल के आरम्भिक कुछ दिन श्रीगमकृष्ण की स्मृति में कलकत्ते के समीप वरनगर (वाराहनगर) में प्रस्थापित 'मठ' और अपने माथी सन्यासी वन्धुओं का संगठन करने में उसने व्यतीत किए । तदनन्तर जुलाई १८९० ई० में देश की एक लम्बी यात्रा पर वह निकल पड़ा । इस यात्रा के अतर्गत हिमालय में कन्याकुमारी तक क्रमशः सारे भारतवर्ष को ऊपर से नीचे तक उमने नाप डाला । वह कलकत्ते से देवघर, भागलपुर, बनारस, अयोध्या और नैनीताल होते हुए हिमालय पहुँचा । वहाँ डेढ़-दो वर्ष पूर्व काशी, अयोध्या, लखनऊ, आगरा, वृन्दावन और हाथरस की अपनी लघु यात्रा के सिलसिले में एक बार और वह आ चुका था ।

यही अल्मोडे के अपने पड़ाव में एक दिन अनायास ही एक बटवृक्ष के नीचे ध्यान करते समय प्रकृति और पुरुष के परस्पर सबध-विषयक अपनी एक महान् आध्यात्मिक गुथी का समाधान पाने में वह सफलीभूत हुआ ! तदनन्तर और अधिक एकांत

की खोज में वह हिमालय की ओर भी ऊँची एवं दुर्गम श्रेणियों की ओर ऊपर बढ़ा । परन्तु शीघ्र ही अपने एकमात्र साथी के बीमार पड़ जाने तथा स्वयं अपने ऊपर भी ज्वर का प्रहार होने के कारण उसे वापस मैदानों में उतर आना पड़ा । वह क्रमशः श्रीनगर (गढ़वाल), देहरादून, हृषीकेश, हरद्वार, सहारनपुर होते हुए अंत में मेरठ में आकर रुका, जहाँ लगभग पाँच महीने तक उसका मुकाम रहा । यहाँ उसके तीन-चार और सन्यासी वन्धु भी उससे आ मिले थे । इस बीच मन ही मन अपने भावी कार्यक्रम का भी नाना-वाना वह बुनता रहा ।

‘भारतमाता’ का साक्षात्कार

तब एक दिन सगी-माथी के उस झमेले में ऊब-कर, एकाकी ही देश के जन-प्रवाह में कूद बधन-मुक्त पक्षी की भांति स्वच्छन्द विचरण करने के उद्देश्य में, साथियों की उस टोली को वहीं छोड़ चुपके में अकेले ही फिर अपनी सफर पर वह चल पड़ा । वह दिल्ली, राजस्थान, काठियावाड़, बम्बई, मैसूर, कोचीन, मलाबार, त्रिगुणपुर, मद्रास और रामेश्वर आदि की यात्रा करते हुए १८९२ ई० के अंत तक भारतवर्ष के दक्षिणतम छोर पर स्थित कन्याकुमारी अंतरीप पर जा पहुँचा ।

अपनी इस मुदीर्घ और अज्ञात यात्रा का नहुन-मारा हिस्सा उसने पैदल ही चलकर तय किया । इस बीच जंगलों, पहाड़ों, घाटियों और नदी-नालों को लाँघने समय कई बार भूख, थकान और निराश्रयता के कारण उसे अपनी जान तक पर खेल जाना पड़ा । परन्तु इस सारी कष्ट तपस्या के बदले में इस महादेश के भौतिक कलेवर के अनुपम प्राकृतिक सौन्दर्य और उसके गौरवपूर्ण अतीत के अमिट पदचिह्नों के जग-मगाते आलेखों की जो झाँकी उसे देखने को मिली, साथ ही उसके वक्षस्थल पर कहीं प्रासादों के विलास-कक्षों में प्रमाद से मदमाती-इठलाती, तो कहीं टूटी जर्जर झोपडियों के बीच गरीबी, गुलामी और तडपन की चक्की में पिसती-कराहती मानवता का जो आँखों-देखा परिचय पाने का अवसर उसे मिला, उसमें अपना साग श्रम और कष्ट वह भूल गया !

उसका हृदय अपनी मातृभूमि के उस निकट के सस्पर्श में आकर स्नेह से भर आया । जब कन्याकुमारी के उस दक्षिणी सीमान्तवर्ती भूखंड पर इस महादेश के चरण पखाने हुए महोदधि में कुछ दूरी तक

तैरकर उसने मुख्य भू-भाग से अलग कटी हुई एक चट्टान पर खड़े हो, उत्तर की ओर अपना दीर्घ अचल फैलाए हुए सतप्ता 'भारतमाता' के प्रति अपनी उल्लसित आँखें दौड़ाई, तो उसकी उस अनिच्छा प्राकृतिक हपराश के साथ-साथ उसकी वर्तमान वेशभूषा की लज्जाजनक आक्रान्तावस्था के विरोधाभास का अनुभव कर एकबारगी ही वह मानो रो-सा पड़ा। अब कहीं जाकर उसकी समझ में ठीक से यह बात आई कि क्यों गुरुदेव श्रीगुरुदेव ने व्यक्तिगत स्वार्थ-साधना के धिरोद्वे में से बाहर निकलकर एक बृहत्तर अनुष्ठान के हेतु अपना जीवन उत्सर्ग कर देने के लिए इतना अधिक जोर देकर उसे प्रेरित किया था। उसे अपने गहन उत्तरदायित्व का अब वास्तविक रूप में भान हुआ और फिर से एक बार उसके मुँह से वही वाक्य निकल पड़े, जो कि अब से दो वर्ष पूर्व एक शिष्य के आगे जी का उबाल न रोक सकने के कारण हठात् एक दिन उसकी वाणी से फूट निकले थे—'भारत को अपनी यह तद्रा छोड़ फिर से सक्रिय बनना ही होगा, उसे पुनः अपनी अध्यात्म-शक्ति द्वारा ससार पर एक बार विजय प्राप्त करना ही होगा !'

अमेरिका में

और जैसा ही वहाँ से उसके कदम वापस उठे, वैसे ही अपने आप ही उसके मानसपटल पर भावी कार्यक्रम के पूर्व-रूप का मानो एक पूरा नक्शा-सा खिच गया। उसने अभी-अभी अपनी उस यात्रा ही में कहीं सुना था कि संयुक्त राष्ट्र, अमेरिका, के शिकागो नगर में पहले-पहल ससार के सभी महान् धर्मों की एक बृहत् परिषद् या महासभा होनेवाली है। अतएव अनायास ही उसके मन में यह विचार उठ खड़ा हुआ कि क्यों न उस महान् विश्व-धर्म-सम्मेलन में शरीक हो भारत की आवाज बुलन्द की जाय। उसने सोचा कि इस देश की वर्तमान अधोगति का यदि सबसे बड़ा कारण कोई है, तो वह यह है कि पिछले दिनों की गुलामी ने हमारे मन में आत्मसम्मान और निजी सामर्थ्य के विश्वास की भावना को विल्कुल ही दबा दिया है। यदि हमें फिर से उठना है, तो इन भावों को जगाना हमारी सबसे पहली आवश्यकता है। पुनः हमें अपने नैतिक बल को सुदृढ़ करना ही होगा। इस उद्देश्य की सिद्धि के लिए, भला इससे बढ़कर

दूसरा उपाय क्या हो सकता है कि हम अपनी महान् आध्यात्मिक कमाई और धर्म की ऊँचाई का परिचय ससार को देकर फिर से इस देश को जगद्गुरु के आसन पर प्रतिष्ठित करने के लिए हाथ बढ़ाएँ ! यही सोचकर उस अयाचित स्वर्ण-अवसर के रूप में प्रस्तुत विश्व-धर्म-परिषद् में शरीक होने के मौके को हाथ से जाने देना उसने उचित न समझा, और फौरन् ही पाडिनेरी होते हुए वह पलटकर मद्रास आया। वहाँ से बम्बई आकर ३१ मई, सन् १८९३ ई०, के दिन मामूली-सी तैयारी के बाद आखिर वह चीन के रास्ते जानेवाले एक जहाज पर सवार हो गया और इसके बाद तो कुछ ही दिनों में अमेरिका की भूमि पर वह जा खड़ा हुआ !

विश्व-धर्म-परिषद्

आश्चर्य नहीं कि शिकागो पहुँचने पर एकदम अपरिचित होने के कारण स्वामीजी को आरम्भ में अनेक विषम कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। उन्हें किसी जानी-पहचानी सस्था की ओर से विधिवत् प्रतिनिधित्व प्राप्त न होने के कारण, शुरू-शुरू में उस धर्म-परिषद् में प्रविष्ट होने तक की अनुमति न मिली। उनके पास जो थोड़ा-बहुत खर्च का रूपया था, वह भी सब का सब तब तक समाप्त हो गया। वह एक ऐसे सकट की स्थिति में पड़ गए कि उन्हें अपनी मारी दोड़-धूप एकदम मिट्टी में मिलते दिखाई देने लगी। परन्तु अतः में उनके लोकोत्तर व्यक्तित्व, अगाध पांडित्य और दिव्य आत्मतेज का प्रभाव पड़े बिना न रह सका। अयाचित ही बोस्टन की एक अमेरिकन महिला तथा हार्वर्ड के सुप्रसिद्ध विश्व-विद्यालय के एक विद्वान् प्रोफेसर ने आगे बढ़कर उनके लिए हर प्रकार की सुविधा कर देने का भार अपने ऊपर ले लिया। इस प्रकार सहज ही न केवल उस धर्म-सम्मेलन के लिए प्रवेशपत्र ही वह पा गए, बल्कि भारत की ओर से एक प्रधान प्रवक्ता के रूप में उसके मंच पर से बोलने का भी मनचाहा अवसर उनके हाथ लग गया।

तब ११ सितम्बर, सन् १८९३ ई०, के दिन अपने ढग के उस सर्वप्रथम विश्व-धर्म-महासम्मेलन का अधिवेशन आरम्भ हुआ और पहले दिन की अपनी एक छोटी-सी वक्तृता ही में धूम-सी बाँधकर इस गेरुए वस्त्रधारी तेजस्वी युवा संन्यासी ने सारे अमेरिका का ध्यान एकबारगी ही अपनी ओर खींच लिया।

उसने अत्यन्त उदात्त स्वर में इस देश के विशद धार्मिक दृष्टिकोण को प्रस्तुत करते हुए सब धर्मों के शाश्वत सत्य-तत्त्वों की मूलभूत एकता, वेदान्त की महत्ता और धर्म के क्षेत्र में समन्वय की आवश्यकता पर ऐसा सुंदर प्रवचन किया कि दूसरे ही दिन से उसके पास जहाँ से देखो वही में भाषण, प्रवचन आदि के लिए भिन्नत्रण पर निमंत्रण आने लगे। इस प्रकार अकेले ही हाथों भौतिक सभ्यता के उस पाश्चात्य लौह दुर्ग पर विजय प्राप्त कर, देखते ही देखते उस 'नई दुनिया' में वेदान्त-धर्म का झड़ा झड़ा कर देने का अद्भुत कार्य उस तरुण भारतीय सन्यासी ने कर दिखाया। अल्पकाल ही में उसके आसपास पश्चिम के ऐसे अनेक सच्चे धर्म-जिज्ञासुओं की टोली जुट गई, जिनमें से कई ने तो उसका शिष्यत्व स्वीकार कर विधिवत् गुरुआ तक पहुँच लिया।

व्याख्यानों की धूम :: 'राजयोग'

१८९३ ई० से १८९६ ई० तक कुल मिलाकर लगभग ढाई वर्ष तक स्वामीजी अमेरिका में रहे। इस बीच उन्होंने स्थान-स्थान में अपने जोगीले व्याख्यानों, प्रवचनों और उपदेशों द्वारा जोरों के साथ वेदान्त-धर्म का प्रचार करते हुए, सारे अमेरिका को भारत की आवाज से गुँजा दिया। उन्होंने कुछ समय तक एक व्याख्यान-प्रबधक संस्था के तत्वा-वधान में धूम-धूमकर बोस्टन, शिकागो, सेंट लुई, डेट्रॉइट, वाशिंगटन, न्यूयार्क आदि प्रधान अमेरिकन नगरों में सार्वजनिक रूप से आयोजित विद्यालय सभाओं में भाषण दिए। तदनन्तर स्थायी रूप से टिककर न्यूयार्क शहर में जिज्ञासु साधकों के लिए जान और राजयोग की एक प्रकार की पाठशाला-सी वह चलाने रहे। यही उन्होंने 'राजयोग' पर अपनी वह सप्ताहप्रसिद्ध पुस्तिका तैयार की थी, जिसे पढ़कर अमेरिकन दार्शनिक विलियम जेम्स और विश्वव्यापी रूसी महात्मा टालस्टॉय तक मुग्ध हो गए थे।

तब १८९५ ई० के सितंबर मास में कुछ महीनों के लिए स्वास्थ्य-सुधार के उद्देश्य से वह वायु-परिवर्तनार्थ पेरिस होते हुए इंग्लैण्ड पहुँचे। वहाँ भी अल्पकाल ही में अपने जादूभरे व्यक्तित्व, ओजस्वी भाषण-शैली और उदात्त दार्शनिक विचारों द्वारा उन्होंने काफी धाक जमा दी। इस प्रकार

योरप और अमेरिका दोनों ही में निश्चित रूप से भारत का सिर ऊँचा कर इस तरुण सन्यासी ने इस देश की सांस्कृतिक और धार्मिक महानता की ओर पश्चिम की दुनिया का ध्यान आकृष्ट करने का मानो एक द्वार-सा खोल दिया। उसके इन प्रयत्नों में न केवल पूर्व और पश्चिम के बहुत्व की उस भावना ही को बढ़ावा मिला, जिसकी पताका लेकर साठ वर्ष पूर्व इस देश का अन्य एक महान् धर्मदूत राममोहन-राय पहले-पहल पश्चिम की ओर अग्रसर हुआ था, बल्कि स्वयं भारत के भी मन में आत्मगौरव के एक सशक्त भाव का उदय होकर परोक्ष रूप से हमारे राष्ट्रीय पुनरुत्थान के मार्ग के प्रशस्त होने में भी उससे एक निश्चित सहायता मिली!

'वेदान्त सोसायटी' :: स्वदेश-वापसी

इसके उपरान्त दिसंबर, १८९५ ई०, में वापस अमेरिका लौटकर स्वामीजी ने पुन वहाँ की कई दार्शनिक और आध्यात्मिक विद्वान्-मंडलियों के सम्मुख अनेक पाण्डित्यपूर्ण वक्तुताएँ दी। इन्हीं दिनों न्यूयार्क में 'वेदान्त सोसायटी' के नाम से एक संस्था की भी प्रस्थापना उन्होंने की, जिसने आगे चलकर उनके धर्मानुष्ठान का कार्य बढ़ाकर पश्चिम में भारतीय धर्म के प्रचार में महत्त्वपूर्ण योग दिया। तब १८९६ ई० के अप्रैल मास में उस महाद्वीप में लगभग ढाई वर्ष बाद विदा ले योग्य के रास्ते वह वापस स्वदेश के लिए रवाना हुए। बीच में वह कुछ काल तक पुन लंदन में रुके और इंग्लैण्ड में बाएँ गाँव वेदान्त के बीज को पुनः अपनी अमृत-खाण्डी में सींचकर विश्वविश्रुत वेदज्ञ महापंडित मैक्समूलर एवं सुप्रसिद्ध जर्मन वेदान्ती पॉल डायसन जैसे उद्भट विद्वानों की उन्होंने मित्रता प्राप्त की। तब इटली के रास्ते लौटकर १५ जनवरी, सन् १८९७ ई०, के दिन अपने तीन अग्रज भक्तों—जे० जे० गुडविन और सेवियर दम्पति—के साथ वह लका के कोलवो बंदरगाह पर उतरे। वही से रामेश्वर, रामनद, मदुरा होते हुए वह मद्रास पहुँचे।

कहने की आवश्यकता नहीं कि इस समय तक उनका नाम इतना अधिक प्रख्यात हो चुका था और योरप-अमेरिका में किए गए महत्कार्य के लिए देश के हृदय में उनके लिए ऐसे गर्व और सम्मान का स्थान बन चुका था कि उनके इस भूमि पर फिर से कदम रखते ही जनता उनके दर्शनार्थ मानो सागर की

तरह उमड़ पड़ी। सारा भारत उनके जय-जयकार के स्वर से निनादित हो उठा ! कहते हैं, रामेश्वर से मद्रास तक रास्ते भर उनके स्वागत में लोगों ने जगह-जगह तोरणद्वार सजाए और बदनवार बांधे ! कहीं उनकी झलक मात्र पाने के लिए भीड़ रेल की पटरियों पर लेट गई ! कहीं साधारण जनो के साथ-साथ बड़े-बड़े राजा-बाबुओं तक ने अपने हाथों उनका रथ खींचकर उनकी चरणधूलि अपने माथे पर लगाई और जीवन कृतार्थ किया ! स्वयं मद्रास नगर में तो लगभग नौ दिन तक सारा कामकाज स्थगित कर दिया गया और केवल उनका स्वागत का उत्सव ही मनाया जाता रहा ! उन्हें सत्रह विजय-द्रोरो से सुसज्जित राजपथ पर से एक भव्य जुलूस बांधकर निकाला गया, और भारत की भिन्न-भिन्न भाषाओं में लिखित चौबीस श्रद्धासूचक मानपत्र विविध सस्थाओं की ओर से उन्हें भेंट किए गए ।

‘भारत, उठ ! तेरी प्राणशक्ति कहाँ है ?’

निश्चय ही पिछले हजार वर्षों में आचार्य शंकर के बाद शायद ही किसी सत्तासी के लिए इस देश का हृदय इतने अधिक उबाल के साथ कभी उमड़ा हो, जैसा कि इस महान् राष्ट्रवीर के लिए इस समय उमड़ पड़ा था ! जब अपने भावी सग्राम की योजना की रूपरेखा खींचते हुए मद्रास के अपने पहले व्याख्यान ही में ‘मेरे भारत, उठ ! तेरी वह प्राणशक्ति कहाँ है ?’ की गगनभेदी हुँकार के साथ इस महादेश की सोई आत्मा को झकझारते हुए, एक महान् क्रान्ति की सूचना लिये हुए अपना प्रथम शब्दनाद उन्होंने किया, तो उठती हुई पीढ़ी की आँखें एक अद्भुत नूतन आशा की ज्योति से चमक उठी और फिर से हमें अपनी नसों में एक नई बिजली का संचार होते मालूम दिया ! हमें उनकी उदात्त वाणी में अपने मर्वतोमुखी उत्थान के स्वरसप्तक के आदि से अंत तक के सभी संदेशवाही संकेत एक साथ ही उद्घोषित होते सुनाई दिए । उन्होंने हमारे मन की उपरली सतह को भेदकर मानो सीधे हमारे प्राणों की सबसे भीतरी तह—हमारे मर्मस्थल—को छू दिया ।

उन्होंने कहा—“प्रत्येक व्यक्ति की तरह हर राष्ट्र की भी जीवनधारा की अपनी एक विशिष्ट प्राण-डोर सी होती है, जो कि उसकी सारी हलचल के केन्द्र में रहती है..... उदाहरण के लिए, किसी राष्ट्र की वह प्राणशक्ति उसके राजनीतिक बल में

रहती है जैसे कि इंग्लैंड की, तो किसी की अपनी कलात्मक साधना ही में ! ठीक वैसे ही हमारे अपने देश की भी जीवनधारा की एक प्राणवाही शिरा है । वह है हमारी आध्यात्मिकता ! वही हमारे राष्ट्रीय जीवन-संगीत का प्रधान केन्द्रीय स्वर है ! वह आध्यात्मिकता ही हमारे प्राणों को सींचनेवाली रक्तधारा है, जो यदि शुद्ध, पवित्र और सशक्त बनी रही तो सब-कुछ हमारे यहाँ ठीक बना रह सकता है ! उसके दुरुस्त हो जाने पर क्या राजनीतिक और क्या सामाजिक सभी प्रकार की हमारी कमियाँ, यहाँ तक कि इस देश पर मँडरा रही यह व्यापक दरिद्रता भी, अपने आप ही मिट जाएगी !”

उनका यह संदेश कोई सूखे तत्त्वज्ञान का पड़िताऊ जालाल न था, प्रत्युत इस देश को वर्तमान गिरी हुई दशा से ऊँचा उठाकर पुनः अपने पैरों पर खड़ा करने के लिए उद्घोषित एक सच्चा राष्ट्रीय मंत्र था ! विवेकानंद अन्य सभी बातों से अधिक केवल शक्ति के ही उपासक थे । अतः उसकी ही साधना का दिव्य पाठ वह अपने देशवासियों को भी पढ़ाना चाहते थे । किन्तु उस महाशक्ति का स्रोत वह केवल त्याग, तपस्या और सेवा के मार्ग ही में देखते थे, भौतिक होड़ाहोड़ अथवा ऊँची-ऊँची अट्टालिकाओं को खड़ा करने में नहीं ! इसीलिए पुकार-पुकारकर वह कहते थे कि “भारत की मुक्ति का एकमात्र उपाय है सेवा और त्याग का मार्ग ! उसी में इस देश का वास्तविक सर्वोपरि राष्ट्रीय आदर्श निहित है । उसी की पगडंडी पर उसे सशक्त रूप से एक बार पुनः खड़ा कर दो और शेष सब-कुछ अपने आप ही ठीक हो जायगा !”

‘दरिद्रनारायण’ मेरा भगवान् है !

इस सेवा-धर्म के महान् आदर्श के प्रति हमारा ध्यान खींचते हुए उस महापुरुष ने जिस बात के लिए हमें सबसे अधिक फटकारा, वह थी समाज के त्रस्त, पीड़ित, अशिक्षित, भूख की आग में लगातार तड़पते रहनेवाले असंख्य ‘दरिद्रनारायणों’ के प्रति हमारी निरन्तर उपेक्षा और अवहेलना । हमारी इस व्यापक प्रवृत्ति के लिए धिक्कारते हुए उन्होंने कहा—“मैं कहता हूँ कि हमारा जो सबसे बड़ा राष्ट्रीय पाप है, वह है इन असंख्य कुचले हुए नर-नारियों के प्रति हमारी गहित उपेक्षा—

यह हमारे पतन के प्रमुख कारणों में से एक है !”
रोष के मारे मानो आग बरसाते हुए उन्होंने हमें लल-
कारा—“तुम ईश्वर-ईश्वर जो ढूँढते हो, तो पहले इन
भूखे-नंगे, पीड़ित, जर्जराकान्त दरिद्रनारायणों को
पूजने के लिए क्यों नहीं आगे बढ़ते ? क्या ये साक्षात्
ईश्वर नहीं हैं ?”

उनका हृदय इन ‘दरिद्रनारायणों’ के लिए ऐसा
उबला-सा पड़ता था कि एक बार उन्होंने कहा था—
“परवा नहीं, यदि अपने श्रद्धालोक के उस एकमात्र
परमेश्वर की पूजा-उपासना के लिए, जो कि
ससार भर के व्रत, पीड़ित, दरिद्र, पापी और पतित
जनो में निवास करता है, मुझे हजार कष्ट भोगते
हुए बार-बार इस पृथ्वी पर जन्म लेना पड़े। मैं सहर्ष
यह स्वीकार कर लूँगा, क्योंकि यही दरिद्रनारायण
मेरा एकमात्र आराध्यदेव है, वही मेरा भगवान् है !”

‘सावधान ! एक प्रचंड ज्वार आ रहा है !’

कहना न होगा कि अपने जीवन के बचे-खुचे शेष
वर्ष अपने उसी परम आराध्य की वेदी पर ही उन्होंने
चढ़ा दिए। उन्होंने अमेरिका से वापस लौटते ही
दक्षिण से उत्तर और पूर्व से पश्चिम तक सारे देश
को अपने तूफानी दौरों और ओजभरे भाषणों से
मानो झकझोर-सा दिया। उन्होंने अपने वेदान्त-धर्म
के शखनाद द्वारा जागृति का एक ऐसा मन्त्र हमारे
कानों में फूँक दिया कि हमें अपनी भुली हुई शपथें
फिर से याद करने में देर न लगी। उसी का यह
सुफल था कि अनतिदूर भविष्य ही में, क्या धर्म और
समाज, क्या साहित्य और संस्कृति, और क्या अर्थ
और राजनीति, सभी क्षेत्रों में हमारे यहाँ उत्थान
की एक ऐसी बाढ़ आ गई, जो कि अब किसी के
रोके नहीं रोकी जा सकती थी ! इस प्रकार केवल
एक-दो दशाब्द ही में उनकी वह महान् भविष्यवाणी
सफलीभूत हो गई कि—“सावधान ! एक प्रचंड
ज्वार उमड़कर आ रहा है.....हमारी लंबी रात का
अंत हो चुका है.....भारत अपनी लंबी निद्रा
त्यागकर जाग उठा है.....अब कभी भी वह इस
प्रकार फिर सोने का नहीं।”

यद्यपि हमारा यह दुर्भाग्य था कि यह ऋषितुल्य
संन्यासी उन्तालिस वर्ष की अल्पायु ही में ४ जुलाई,
सन् १९०२, के दिन इस संसार से उठ गया,
किन्तु इस अल्पावधि ही में वह इस देश को ऐसा
अनुप्राणित कर गया, और अपनी ज्वलत वाणी के

प्रसाद के रूप में एक ऐसी स्थायी वसीयत छोड़
गया कि आज ही नहीं बल्कि युग-युग तक हम
उसके प्रकाश में अपना मार्ग सुस्पष्ट देखते रहेंगे !
मृत्यु से तीन वर्ष पहले स्वामीजी पुनः भारतीय ज्ञान
की मशाल लेकर पश्चिम को जगाने के लिए
योरप और अमेरिका की एक लंबी यात्रा पर गए थे।
परन्तु स्वास्थ्य की खराबी के कारण उन्हें शीघ्र ही
वापस स्वदेश लौट आना पड़ा। इस बीच श्रीरामकृष्ण
के आदर्शानुसार अपने वाद भी आध्यात्मिक उत्थान
और जनसेवा का कार्य जारी रखने के लिए
अपने साथी-संन्यासियों और शिष्यों का ‘श्रीरामकृष्ण
मिशन’ के नाम से एक संस्था के रूप में वह सगठन
कर चुके थे। इस संस्था की देशहितकारी साधनाओं
द्वारा आज भी उनके द्वारा प्रज्वलित सेवाधर्म की
लौ प्रकाशमान बनी हुई है।

विवेकानन्द की देन

विवेकानन्द का कार्य था हमें नवयुग की प्रेरणा
देकर हमारी नसों में जागरण का नूतन स्वर भरना—
हमारी आध्यात्मिक और नैतिक भित्ति को फिर से
मजबूत बनाकर हमारे सर्वतोमुखी उत्थान की एक
विशाल पृष्ठभूमि तैयार करना। इस कार्य में वह
कहाँ तक सफल हुए, इस बात को शब्दों द्वारा
व्यक्त करने की आवश्यकता अब नहीं रह गई है।
इसका तो जीता-जागता प्रमाण आज के दिन
हर दिशा में उमड़ती चली आ रही हमारी नव-
चेतना की वह बाढ़ है, जिसने गांधी और रवीन्द्रनाथ,
अरविन्द घोष और राधाकृष्णन्, जवाहर और
सुभाष जैसे रत्नों को पैदा कर उनके महाप्रस्थान
के बाद के पचास वर्षों के भीतर ही ऐसा दुर्द्धर्ष रूप
ग्रहण कर लिया है !

स्वामीजी से जो सबसे अधिक मूल्यवान् और
स्थायी वसीयत हमें मिली है, वह है निस्सादेह
उनके उन ओजस्वी और अगाध पांडित्यपूर्ण
भाषणों और लेखों का बृहत् संग्रह, जो हमारे ही
अपने साहित्य की नहीं प्रत्युत् सारे विश्व-वाङ्मय
की एक अनमोल थाती है। ये भाषण और लेख
प्रायः सब के सब अंग्रेजी ही में हैं और वे कई
एक जिल्दों में सकलित हैं। वे धर्म, दर्शन, तत्त्व-
ज्ञान और वेदान्तमूलक अध्यात्मवाद की तो एक
सारगर्भित विवेचना की खान हैं ही, साथ ही
उनके प्रत्येक पद में इस राष्ट्र के पुनरोदय के लिए

भी एक ऐसा शृंगलाबद्ध प्रेरक संदेश परोया हुआ है कि हम उन्हें इस युग के भारत के लिए राष्ट्रीय उत्थान के सबसे उज्ज्वल महापाठों की सजा प्रदान कर सकते हैं। वे हैं हमारे इस युग के नवीन उपनिषद् ! कौन भारत का सपना ऐसा होगा, जिसके जीवन-निर्माण में उन आत्त वचनों के अमृत-विन्दुओं ने अपने ढंग से एक नवीन ओज, एक नई कर्तव्य-भावना की लहर न जगाई हो ?

जैसा कि इस महापुरुष के महान् चरित्रकार रोम्या रोलाँ ने कहा है, आधुनिक भारत के त्रिशिखर-रूप हमारी तीन सबसे बड़ी विभूतियाँ—गांधी, रवीन्द्रनाथ और अरविन्द घोष—तक बहुत अग्र में इसी तरह वेदान्ती सन्यासी द्वारा बाँटे गए बीजों को लेकर विकसित हुई है। तो फिर देश के अन्य नीनिहाली पर भी यदि लगातार उसका प्रभाव पड़ता रहा हो और आगे भी पड़ता रहे, तो इसमें आश्चर्य ही क्या है ?

नई पीढ़ी के नाम संदेश

अतः मैं अपने नवमस्थापित 'श्रीरामकृष्ण-मठ' के सेवाश्रमियों तथा सन्यासी वन्धुओं के नाम अमेरिका में प्रेषित एक संदेश के रूप में मानो देश की उगती हुई पीढ़ी के समस्त नौजवानों को लक्ष्य करके आधो-पित इस गण्ड-गुरु के निम्न उल्लेखनीय वाक्यों को उद्धृत कर, उसकी इस छोटो-सी गौरव-प्रशस्ति को हम समाप्त करना चाहते हैं—

“मेरे बच्चों ! तैयार हो जाओ अब अपनी कमर कसकर ! तुम्हीं हो इस देश की आशा और तुममें भी उसी पर मैं अपनी सच्ची उम्मीद लगाए हुए हूँ, जो चाहे कितना ही अधिक नीचे वर्ग का और दीन-हीन क्यों न हो, फिर भी है सच्चा निष्ठावान् ! जाओ, समाज में जो सबसे अधिक दुःखी और निपीड़ित है, उनके प्रति हृदय में सच्ची सहानुभूति और समवेदना का भाव रखते हुए मदद की भाँव माँगो, और विश्वास करो वह मदद अवश्य तुम्हें मिलेगी। मैं स्वयं इसी एक बोझ को हृदय में लेकर तथा इसी एक भावना को मस्तिष्क में बसाकर पूरे बारह वर्ष तक लगातार यहाँ से वहाँ भटकता रहा हूँ, और एक घर से दूसरे घर जाकर न जाने कितने तथाकथित धनी और बड़े लोगों के द्वार खटखटा चुका हूँ। और आज भी आधी दुनिया को पार करके अपने घायल दिल को

ले, उसी मदद के लिए मैं आया हूँ इस अपरिचित विदेश (अमेरिका) की भूमि पर भी ! ... परवा नहीं यदि सर्दी और भूख के मारे मैं यहाँ विनष्ट ही हो जाऊँ ! किन्तु नौजवानों, उन दीन-हीन, मूढ़ और पीड़ित जनों के लिए अपनी इस समवेदना, अपने इस संघर्ष की यह वसीयत मैं तुम्हारे लिए छोड़ जा रहा हूँ ! ... जाओ, उनके लिए अपनी बलि चढ़ा दो ! अपने सारे जीवन को उनकी सेवा की वेदी पर उत्सर्ग करने का व्रत ले लो ! आगे बढ़ो—उन तीस करोड़ अभाग्य नर-नारियों के लिए, जो कि प्रति दिन लगातार नीचे-ही-नीचे खिसकते चले जा रहे हैं ! कद पड़ो इस आग में, मेरे बच्चों ! आओ, दिन-रात हमसे से प्रत्येक जन भारत के उन लाखों-करोड़ों कुचले हुए शोषित जनों के हित के लिए प्रभु से प्रार्थना करो, जो कि मठाधीशों-पुरोहितों के अत्याचार, धनियों और यन्त्रिकानों के निरंतर जुलूम तथा गरीबी द्वारा लगातार दबाए कुचले जा रहे हैं !

“मैं कोई तत्त्ववेत्ता नहीं, न दार्शनिक ही हूँ, और न मत ही हूँ। मैं तो एक गरीब हूँ और गरीबों का ही अनन्य भक्त हूँ ! आज के दिन कौन ऐसा है, जो भारतवर्ष के उन बीस करोड़ अकिंचन नर-नारियों के लिए अपने दिल में सच्चा दर्द रखता हो, जो कि सदा के लिए गरीबी और अज्ञान की दशा में डूबे हुए हैं ? कहाँ है उनके उद्धार का रास्ता ? कौन उन्हें प्रकाश लाकर देगा ? इन्हीं दृग्द्वारायणों को अपना परमेश्वर बनाओ ! मैं तो सच्चा 'महात्मा' उसे ही कहूँगा, जिसका कि हृदय गरीबों के लिए विलखता हो ! जब तक कि इस देश के लाखों मनुष्य भूख और अज्ञान की दशा में ही जीवन-यापन कर रहे हों, मैं ऐसे प्रत्येक व्यक्ति को देशद्रोही करार देता हूँ, जो कि इनकी ही कौड़ी के बल पर शिक्षित और समृद्ध बनकर उनके प्रति जरा भी ध्यान न दे रहा हो !”

महान् युग-प्रणेता

कितने उदात्त वाक्य है ये ! और आज भी हमारे लिए उनमें कितना जगमगाता हुआ कर्म-संदेश भरा पड़ा है ! यह थे स्वामी विवेकानन्द—इस युग के हमारे सबसे महान् शिक्षागुरु, अर्वाचीन और प्राचीन को सबद्ध करनेवाले हमारे सबसे महान् सेतु, और जन-साधारण को ऊँचा उठानेवाले एक सच्चे राष्ट्र-निर्माता !

धर्म और दर्शन की जननी भारत-भूमि मानवता का मुख उजागर करनेवाले पहुंचे हुए महात्माओं से कभी भी खाली नहीं रही है। वैदिक ऋषियों से लेकर 'सेवा-ग्राम' के सत' तक की अविच्छिन्न परंपरा इसका जीता-जागता प्रमाण है। यही नहीं, किसी-किसी युग में तो एक ही आवाज लिए हुए एक साथ ही कई क्रान्तदर्शी महापुरुष इस भूमि पर उतरे, जैसे उपनिषद्काल में याज्ञ-वल्क्य आदि विविध ब्रह्मर्षि और मध्य युग में कबीर, नानक आदि सत'। हमारा आज का युग भी ऐसे ही अनेक ऋषितुल्य लोक-नायकों के पदचिह्नों द्वारा मुखरित और प्रकाशित हुआ है। हम देख चुके हैं कि किस प्रकार श्रीराम-

कृष्ण, ऋषि दयानन्द और देवन्द-केशव जैसे महान् शिक्षा-गुरु एक साथ ही प्रकट हुए हुए थे। उनके बाद जब स्वामी विवेकानन्द ने हमारी धर्म-पतवार सँभाली, तो वह भी अकेले नहीं आए। उनके साथ ही अवतीर्ण हुआ आधुनिक भारत का एक और असाधारण लोकशिक्षक ! इस महात्मा ने अपने वचनमृत से भी अधिक त्याग और तपस्या के अपने लोकोत्तर जीवन द्वारा हमें आत्म-ज्ञान का महापाठ पढ़ाया। साथ ही इस देश की अमर वाणी को ससार भर में गुँजा देने में भी उसने महत्त्वपूर्ण योग दिया। यह महापुरुष था स्वामी राम या रामतीर्थ, जो आचार्य शंकर की भाँति आया तो था केवल तैंतीस वर्ष ही की अल्पायु लेकर, किन्तु इतने ही समय में हमारे अतस्तल पर



रामतीर्थ

अपने व्यक्तित्व की ऐसी अमिट छाप वह जमा गया कि अर्वाचीन भारत का कोई भी सर्वाङ्गीण चित्र उसके उल्लेख के बिना संपूर्ण नहीं माना जा सकता।

आरंभ ही से धर्म के प्रति रुझान

स्वामी रामतीर्थ, जिनका सन्यासकाल से पहले का नाम था गोस्वामी तीर्थराम, उस पुण्यस्थली पंजाब की उपज थे, जिनमें कभी इस देश की मस्कुति का सर्वप्रथम उद्घाटन कर वेदों की ऋचाओं का आरम्भिक मंगलगान किया था और जहाँ कालान्तर में नानक और गोविन्दसिंह जैसे महापुरुष प्रकट हुए थे। उनका जन्म २२ अक्टोबर, सन् १८७३ ई०, के दिन जिला गुजरानवाला के मुरलीवाला नामक गाँव में एक अत्यन्त गरीब स्थिति के ब्राह्मण पुजारी के घर हुआ

था, जिसके भरण-पोषण का एकमात्र साधन अपनी पुरोहित-वृत्ति ही थी ! कहावत है कि 'पूत के पग पालने में ही दिखाई दे जाते हैं।' इसका प्रमाण हमारे चरितनायक ने भी अपने बचपन में दिया ! कहते हैं, जब तीर्थराम साल डेढ़ साल का बालक था, तभी से उसके बर्ताव में धर्म के प्रति ऐसा प्रगाढ़ झुकाव दिखाई देने लगा था कि मदिरों की आरती की शखवनि सुनते ही वह रोते-रोते चुप हो जाता था ! तीन वर्ष की अवस्था होते-होते तो धर्म-सबधी उसका यह नैसर्गिक अनुराग इतना अधिक बढ़ गया था कि एक बार जब पिता उसे किसी पंडित की कथा सुनाने के लिए अपने साथ ले गए, तो दूसरे दिन से उसने फिर वही जाने के लिए जोरों से मचलना शुरू किया । फिर कथा का समय होते ही रो-रोकर वह आकाश-पाताल एक कर देता और तब तक शान्त नहीं होता था, जब तक पिता उसे कथा-स्थान तक न लिवा ले जाते थे ! उसकी बुद्धि भी आरंभ ही से असाधारण रूप से परिपक्व और तीव्र थी ! तभी तो पढ़ने के लिए जब वह गाँव के मौलवी के पास बिठाया गया, तो तीन ही वर्ष की अवधि में उसने पाँच वर्ष का पाठ्यक्रम पूरा कर लिया । कहते हैं, उस छोटी-सी अवस्था ही में शेक्सपीयर की फारसी कृतियों तथा अनेक उर्दू शायरों की कविताओं के लबे-लबे उद्धरण कठस्थ करके धड़ल्ले के साथ वह उन्हें ज्यों-के-त्यों दोहरा देता था ।

लाहौर का शिक्षा-काल

तब चौदह वर्ष की अल्पायु ही में गुजरानवाला-हाईस्कूल से प्रथम श्रेणी में मैट्रिक की परीक्षा पास कर, पिता की असम्मति होने पर भी लाहौर जाकर विशेष अध्ययन के लिए उसने वहाँ के मिशन-कालेज में प्रवेश किया । उसका यह शिक्षा-काल घोर गरीबी के कारण भयंकर कष्ट और तंगी के साथ बीता ! कहते हैं, वह शहर की बाढ़ोवाली नामक एक अत्यन्त गरीबी की एक रूपए मासिक किराए की एक तंग कोठरी में रहता ! केवल तीन पैसे रोज की भठियारे की रोटियों पर बसर करता ! और इस सारी मित-व्ययिता के बाद भी कॉलेज की अपनी फीस के माह-वारी साढ़े चार रूपए की रकम भी बड़ी मुश्किल से बचा पाता था ! उसे घर से एक कौड़ी भी मदद के रूप में नहीं मिलती थी । उसका इन दिनों का सारा खर्च केवल ट्यूशन अथवा स्कॉलरशिप की उस छोटी-

सी रकम के बल पर ही चलता था, जो गुजरानवाला की म्युनिसिपल कमेटी से उसे मिलती थी । उल्टे उससे से भी कभी-कभी कुछ रुपए बचाकर वह घर भेज दिया करता था ! इस पर एक और दुर्भाग्य की बात यह थी कि पिता ने दस वर्ष की छोटी-सी उम्र ही में उसका विवाह भी कर दिया था । फलतः अपने अलावा अपनी निरीहा बालपत्नी की भी बहुत-कुछ चिन्ता उसे स्वभावतः खाए डालती थी ! किन्तु बाधाओं के इस कठोर चक्रव्यूह में बुरी तरह फँसकर भी राम ने दृढ़तापूर्वक अपने अध्ययन का क्रम लगा-तार जारी रखा । उसने १८९५ ई० में अपने प्रिय विषय गणित में—जिस पर कि उसका असाधारण प्रभुत्व था—एम० ए० की उपाधि प्राप्त कर ली । तब काफी समय तक बेकारी के भूत से लड़ने और दर-दर की ठोकरें खाने के उपरान्त, पहले तो स्यालकोट के मिशन-हाईस्कूल में एक साधारण अध्यापक की और तदनन्तर लाहौर के फोरमैन क्रिश्चियन कॉलेज में गणित के प्रोफेसर की जगह उसे मिल गई, जिससे कि उसके जीवन-निर्वाह का प्रश्न बहुत-कुछ हल हो गया ।

धन्ना भगत

किन्तु यह तो केवल उसके सासारिक और उपरले जीवन की ही पृष्ठभूमि थी । वस्तुतः उसके अतस्तल में तो पिछले कई वर्षों से किसी छिपे हुए सोते की तरह दिन पर दिन उमड़ता आ रहा था लगातार दूसरा ही एक प्रवाह ! उस प्रवाह ने समय पाकर उसकी जीवन-दिशा की धुरी को कहीं से कहीं की ओर मोड़ दिया ! यह था बचपन ही में उसके हृदय-तल में नैसर्गिक रूप में उच्छ्वसित आध्यात्मिकता का वह प्रबल स्रोत, जिमकी एक सुस्पष्ट झलक इन्हीं दिनों धन्ना भगत नामक अपने एक हितैषी को लिखे गए उसके भावुक पत्रों में देखने को मिलती है । ये पत्र उसके आरंभिक जीवन की आत्मकहानी पर प्रकाश डालने में बड़े मूल्यवान् साबित हुए हैं । इस व्यक्ति को तीर्थराम द्वारा समय-समय पर लिखे गए पत्रों की कुल संख्या ग्यारह सौ के लगभग है ! उनमें हमारे चरितनायक के आरंभिक दिनों की मामूली में मामूली बातों में लेकर उसके अंतराल में उमड़ने-वाले धार्मिक भावावेग के उफान तक सभी कुछ सामग्री एक रोजनामचे की तरह संकलित है ! यह धन्ना भगत या भक्त धन्नाराम था तो ठेठ का

एक देहाती, परन्तु अपनी जन्मजात जिज्ञासावृत्ति और धर्म-पिपासा के फलस्वरूप वह साधना के पथ पर काफी दूर तक आगे बढ़ने में सफल हो पाया था ! इस व्यक्ति का राम के मन में अकुरित आध्यात्मिकता के पौधे को सींचने और परिपक्व करने में गुरु-गुरु में बहुत गहरा हाथ रहा था ! वह नैष्ठिक ब्रह्मचारी था और था एक कठोर तपस्वी ! भगवान् श्रीकृष्ण के प्रति उसके हृदय में प्रबल भक्ति-अनुराग था । कहते हैं, उनकी कथा सुनते समय तथा भजन-गीत द्वारा उनका गुणगान करते समय प्रायः उसकी आँखों से आँसुओं की नदियाँ बहने लगती थीं ! तो फिर राम जैसा धर्म-पिपासु उसके संसर्ग में आकर भला क्योंकर उसके प्रभाव से अछूता रह सकता था !

जब गुजरानवाला-हाईस्कूल के अपने विद्यार्थी-जीवनकाल में हमारे चरितनायक को अपने पिता के आदेशानुसार इस अद्भुत व्यक्ति की देखरेख में रहने का कुछ दिनों तक अवसर मिला, तो सहज ही दोनों में एक प्रकार का गुरु-शिष्य का-सा सबंध प्रस्थापित हो गया । समय पाकर यह नाता इतना प्रगाढ़ हो गया कि राम की निगाह में अपने इस पथ-प्रदर्शक से अधिक पूज्य और प्रिय दूसरा कोई व्यक्ति इस दुनिया में न रह गया ! उसने अपने इस आध्यात्मिक शिक्षक को तन, मन, धन, सब कुछ अर्पित कर अपने आपको पूर्णतया उसके हाथों में छोड़ दिया, और बदले में उसकी प्रगाढ़ धर्मवृत्ति एवं भक्ति की लहर का प्रसाद पाकर उस छोटी-सी उम्र ही में अपने को साधना के कँटीले मार्ग का पथिक बना लिया !

कृष्ण-भक्ति का आवेग

कालान्तर में वही सोता, जो अब तक भीतर ही भीतर उबल रहा था, अब दुर्द्धर्ष भाव से उमड़कर एकबारगी ही बाहर भी फूट निकला । उसका प्रथम आवेग हमारे चरितनायक के जीवन में प्रकट हुआ कृष्ण-भक्ति की एक प्रबल तरंग के रूप में ! यह उन दिनों की बात है, जब कि राम को अपने उस प्रोफेसर के पद पर काम करते अभी तीन-चार महीने भी व्यतीत न हुए होंगे । कहते हैं, आरंभ में कुछ दिनों तक तो यह युवक चुपचाप केवल मन ही मन एकान्त ध्यान-चिन्तन तथा नित्यप्रति के गीता-पाठ आदि द्वारा अपने इष्ट की आराधना-उपासना

करता रहा । परन्तु अंत में अपने हृदय में जगी हुई उस भक्ति की तरंग को छिपाकर रखना उसके लिए असंभव-सा हो गया । अब तो मीरा या चैतन्य की तरह अपने 'मनमोहन' के प्रेम में मतवाला होकर वह खुलकर ही ऐसा उबलने लगा कि प्रायः उसका नाम भर सुनते ही भावावेश में उसकी आँखों से आँसुओं की वरसात होने लगती और उसकी विरहानल में तड़पते हुए वह प्रायः धरती पर लोट-पोट तक हो जाता !

वस्तुतः अब उसके लिए कॉलेज में अपनी पढ़ाई का काम भी ठीक से निभा पाना कठिन हो गया था । वह प्रायः 'कृष्ण' ही का पाठ अपने विद्यार्थियों को भी पढ़ाने लगता था ! अब श्यामपट पर ज्यामिति के प्रश्नों के रेखाचित्र बनाते-बनाते अक्सर उसके हाथों अपने आप ही उस कन्हैया का चित्र रेखांकित हो जाता था । इसके बाद तो प्रायः सुबह-शाम अपने 'कृष्ण प्यारे' की पुकार लगाते हुए रावी के तट पर पागलों की तरह दौड़ते हुए वह देखा जाने लगा ! उस समय यदि अचानक कहीं किसी की बाँसुरी की ध्वनि उसके कानों पर पड़ जाती, तब तो उसमें अपने उस प्रियतम की अलौकिक मुरली की धुन की ही मानो प्रतिध्वनि पाकर वह मस्ती से झूमता हुआ अपनी सारी मुग्ध-बुद्धि खो बैठता था ! कहते हैं, अपने इन्हीं पागलपन के-से दिनों में सनातन धर्मसभा के सुप्रसिद्ध व्याख्याता पं० दीनदयालु शर्मा के साथ वह मथुरा-वृन्दावन की पुनीत ब्रज-भूमि की एक छोटी-सी तीर्थयात्रा भी कर आया । तब से आँखों में अपने प्रिय आराध्य की विविध वाल-लीलाओं की एक झाँकी-सी बसाकर, आठों पहर अपने कल्पनालोक के यमुना-दुकूल के उन केलिकुजों की वनवीथिकाओं में ही विचरते हुए वह रात-दिन अपने मनमोहन की रट लगाने लगा ।

ज्ञान-वैराग्य के आँगन में

परन्तु जैसा कि शास्त्रों में कहा है, भक्ति की यह उद्दाम तरंग शीघ्र ही अतस्तल के बंद कपाटों को खोलकर साधक को ला खड़ा कर देती है ज्ञान और वैराग्य के आँगन में भी । यही बात अल्पकाल में हमारे चरितनायक के बारे में भी घटित हुई ! कहते हैं, इन्हीं दिनों द्वारकामठ के तत्कालीन शंकराचार्य श्री माधवतीर्थ का लाहौर में आगमन हुआ । स्थानीय सनातन धर्मसभा के मंत्री एवं

प्रमुख कार्यकर्ता होने के नाते राम को उस विद्वान् संन्यासी के निकट ससर्ग में आने का प्रचुर अवसर मिला ! स्वामी माधवतीर्थ एक सच्चे रत्नपारखी थे । अतः इस प्रतिभासपन्न युवक प्रोफेसर की प्रगाढ़ आध्यात्मिकता और उसकी भक्तिमूलक साधन-वृत्ति की तह में छिपी हुई अद्वितीय महानता के बीजों का परिचय पाते उन्हें देर न लगी । यद्यपि उन्हें अधिक अवकाश प्राप्त न था, फिर भी जब तक वह लाहौर में टिके रहे, उन्होंने नित्यप्रति कुछ समय निकालकर इस तरुण जिज्ञासु को उपनिषद्, ब्रह्म-सूत्र आदि का पाठ पढ़ाकर वेदान्त की शिक्षा देने में अपनी ओर से कोई कौर-कसर न उठा रखी ! तब तो फिर पूछना ही क्या था ! उनका वह वेदान्त का पाठ पूरा होते ही देखते ही देखते हमारे चरितनायक की 'कृष्ण, कृष्ण' की वह पुकार आत्मदर्शन की एक प्रबल ज्ञान-पिपासा में परिणत हो गई ! उसका वह 'मनमोहन कहैया', अब सारे विश्व के रोम-रोम में व्याप्त एक ही निर्विल निरञ्जन परब्रह्म का रूप धारण कर, साकार से निर्गुण एवं निराकार हो गया ! अब बाहर की ओर रमने के बजाय वह स्वतः उसके ही अपने अतराल में वस गया और इस तरह उसके मन में रमकर वह वन गया उसका अपना आत्माराम ही !

विवेकानन्द से भेंट

इसी बीच उत्तरी भारत के अपने दौरे के क्रम में सौभाग्यवश स्वामी विवेकानन्द का भी लाहौर में आना हुआ । उनके निकट सस्पर्श में आकर और भी अधिक प्रेरणा ग्रहण करने का सुअवसर राम को मिला ! यद्यपि इस बात का कोई लेखा आज हमारे पास नहीं है कि उस महान् संन्यासी के साथ अपनी भेंट-मुलाकातो के सिलसिले में हमारे चरितनायक ने क्या-क्या अनुभूतियाँ प्राप्त की, फिर भी हमें सदेह नहीं कि अपने युग के उस सबसे तेजस्वी भारतीय लोकशिक्षक की ओजस्वी वाणी और दिव्य साधना का इस उठते हुए साधक के मन पर कुछ कम प्रभाव न पड़ा होगा । वल्कि अनुमान तो यही किया जाता है कि उसी के व्यक्तित्व और जीवन से प्रेरित होकर तीर्थराम के मन में शीघ्र ही संन्यास ग्रहण कर आत्मोपलब्धि के मार्ग पर बढ़ने और वेदान्त के महापाठ का एक जीता-जागता उदाहरण मसार

के सामने प्रस्तुत करने की प्रबल हूक जगी होगी ! क्योंकि इसके शीघ्र ही बाद ज्याही कॉलेज की गर्मी की छट्टियाँ आईं, उसने मथुरा-वृन्दावन की दौड़ लगाने के बजाय इस बार सीधे हिमालय ही की ओर अपने पाँव बढ़ाए । वह हरद्वार से हृषीकेश पहुँचा और वहाँ अपने पास की कौड़ी-कौड़ी तक उसने साधुओं में वितरण कर दी । तब पागलों की तरह नगे वदन ही वह पड़ोस के तपोवन नामक स्थान की ओर चल दिया । वहाँ आत्मदर्शन करने का दृढ़ संकल्प करके गंगा के किनारे एक जगह वह आसन जमाकर बैठ गया । मन ही मन यह भीष्म प्रतिज्ञा उसने कर ली कि या तो इष्ट-साक्षात्कार करके ही उठूँगा या फिर अपना जीवन ही यहाँ पर समाप्त कर दूँगा ! और अतः जब शीघ्र ही अपनी उच्छ्वा-पूर्ति होते उसे न दिखाई पड़ी, तो अब और अधिक जीना व्यर्थ समझ वह सचमुच ही प्राणों का मोह छोड़ उस वाद-चढ़ी गंगा में कूद पड़ा ! किन्तु भगवती भागीरथी को अपने इस प्रतिभावान् पुत्र को वस्तुतः इतने शीघ्र अभी अपनी गोदी में लेना स्वीकार न था । अतः कुछ देर तक तो उसने उसके शरीर के साथ ग्लितवाड-सा किया और तब फूल की तरह उछालकर उसे पुनः एक तटवर्ती चट्टान पर फेंक दिया !

अद्वैतानुभूति

कहते हैं कि जैसे ही मा गंगा की उस प्यार-भरे चपत का प्रहार उसने पाया, वैसे ही इस तरुण साधक के ज्ञानचक्षु एकवारगी ही खुल पड़े और उसी चट्टान पर लेटे-लैटे अप्रयास ही उसे वह ईप्सित इष्ट-सिद्धि का वरदान प्राप्त हो गया, जिसके लिए कुछ ही मिनट पहले वह अपने प्राण तक दे देने को उतारू हो गया था । इस प्रकार उसने वह महान् अद्वैतानुभूति सिद्ध कर ली, जो केवल निर्विकल्प समाधि की तुरीयावस्था पर पहुँचे हुए इने-गिने परमहंस महापुरुषों ही को प्राप्त हो पाती है । अब तो सब कही स्वयं अपनी ही आत्मा का प्रकाश चारों ओर छाया हुआ उसे दिखाई देने लगा ! उसके लिए अब वस्तुतः बाहर और भीतर, एक और अनेक, भूत-भविष्य और वर्तमान एवं भक्त और भगवान् तक का भेद सर्वथा मिट गया ! जैसा कि स्वयं उसी ने बाद में लिखा था, पत्ता-पत्ता अब मानो यही वाक्य पुकार-पुकारकर उसका

स्वागत करते दिखाई देने लगा था कि 'तत्वमसि, तत्वमसि', अर्थात् तू ही वह है, तू ही वह है !

पुनः हिमालय की ओर

उत्तराखण्ड की इस यात्रा से लौटते ही राम के सासारिक बंधन और भी ढीले पड़ गए। अब अपना अधिकांश समय वेदान्त-चर्चा तथा साधना ही में बिताने के उद्देश्य से उसने मिशन कॉलेज की अपनी उस छः घण्टे रोजाना की नौकरी से त्यागपत्र दे दिया और स्थानीय गवर्नमेण्ट ओरिएण्टल कॉलेज में केवल दो घंटे रोज पढ़ाकर ही अपने परिवार का निर्वाह करना शुरू किया। तदुपरान्त पुनः गर्मी का मौसम आते ही वह हिमालय जा पहुँचा। इस बार काश्मीर के रास्ते लगभग तेरह हजार फीट की ऊँचाई पर स्थित अमरनाथ की सुप्रसिद्ध पवित्र गुफा तक का एक चक्कर वह काट आया। इस यात्रा में उसके साथ असबाब के नाम पर कुल सामान क्या था ? केवल उसका वह अंगोछानुमा उपवस्त्र ही, जिसमें का कुछ भाग तो वह अपनी कमर में लपेट लेता था और शेष से आवश्यकता पड़ने पर ऊपरी बदन ढाँप लेता था।

इसी प्रकार कुछ महीने बाद सागर-दर्शन की उत्कठा से प्रेरित होकर, साथ में किसी तरह का सामान या एक पैसा भी लिए बिना, वह लाहौर से कराँची तक की भी एक दौड़ लगा आया। इस यात्रा में भी उसे किसी तरह की असुविधा नहीं होने पाई, क्योंकि हर जगह अयाचित ही कोई न कोई व्यक्ति उसे मदद पहुँचाता रहा !

गृह-संसार से विदाई :: महाभिनिष्क्रमण

इसी बीच सन् १९०० ई० के जनवरी मास से 'अलिफ' के नाम से उसने लाहौर से उर्दू में एक बिल्कुल निराला मासिक पत्र निकालना शुरू किया था। उसमें बड़े मस्ताने ढंग से अपने हृदय में तरंगित वेदान्त का उबाल निकालते हुए दुनिया को उसका पाठ पढ़ाने की ओर पहले-पहल वह अग्रसर हुआ था। किन्तु सच तो यह था कि उसके अतस्तल का ज्वार इन सीमित प्रणालियों ही में समाकर थम जानेवाला कोई मामूली उफान न था। वह तो ऐसा एक महाओष था, जो सभी प्रकार के बंधनों से मुक्त केवल संपूर्ण निवृत्ति की समतल भूमिका पर पहुँचकर

ही स्थिर हो सकता था ! अतएव शीघ्र ही वह समय भी आया, जब राम को अपनी सासारिकता की वे रही-सही श्रृंखलाएँ भी बेतरह अखरने लगी। उसके लिए गृहस्थाश्रम के उस घिरींदे में रह पाना अब एकदम असंभव-सा हो गया। आखिर एक दिन उसने अपने उन वच्चे हुए सासारिक बंधनों को भी समूल काटकर, उस गृह-संसार से अंतिम विदा ले, विशुद्ध निवृत्ति ही के पथ पर अग्रसर होने का महान् निश्चय कर लिया। इस प्रकार एक ही झटके में कलियुग की अपनी वह प्रोफेसरी, अपनी वह प्रिय गणित, रावी नदी का वह तट, वह घर-बार, और-स्त्री-पुत्र-स्वजन-परिवार की वह स्नेह-सिंचित दुनिया ठुकराकर सदा के लिए उसने अपने आपको विजन का वासी बना लिया।

कहते हैं कि उसके उस महान् संसार-त्याग और महाभिनिष्क्रमण का दृश्य जिन्होंने उस दिन अपनी आँखों से देखा, वे लावण हृदय धामने का प्रयास करने पर भी विदाई के उस कर्षणा-स्रोत के प्रवाह में बहने से अपने आपको न रोक सके ! उसको बिछड़ते देखकर न केवल उसका अपना परिवार ही, बल्कि लाहौर का सारा हिन्दू समाज या सच पूछो तो सारा हिन्दू पंजाब ही मानो रो पड़ा था !

'तीर्थराम' से 'रामतीर्थ'

घर छोड़कर वह पुनः अपने प्रिय हिमालय ही की ओर अग्रसर हुआ। उधर उसका साथ छोड़ने का एकाएक साहस न कर पाने के कारण, तीन-चार शिष्यों के साथ मोहवश उसकी धर्मपत्नी भी अपने दाँ वच्चों को लेकर उसके पीछे ही ली ! उसने भी उन्हें साथ आने से रोका नहीं। पर हरद्वार से देवप्रयाग होते हुए जब उस छोटी-सी यात्रा-मंडली ने तेहरी पहुँचकर अपना पहला लंबा पड़ाव डाला, तो एक दिन रात को सबको वही छोड़ वह चुपके से अकेला ही वहाँ से खिसक दिया। नगे सिर और नंगे ही पैर एकाकी चलकर वह वहाँ से पचास मील दूर उत्तरकाशी जा पहुँचा और इस महाभिनिष्क्रमण के छः महीने के बाद ही, १९०१ ई० के आरंभ में, गंगा मैया के पुनीत तट पर एक दिन विधिवत् जनेऊ त्यागकर तथा सिर मुँडवाकर अंत में उसने सन्यासियों का काषाय धारण कर लिया। इस प्रकार अट्ठाइस वर्ष की उस अल्पायु ही में गोस्वामी तीर्थराम से सन्यासी 'रामतीर्थ' के रूप में परिणत होकर सदा के लिए

वह ससार से किनारा कस गया और बन गया निवृत्ति-मूलक कल्याण-मार्ग का एक महापथिक !

इस महान् त्याग के बाद स्वामीजी कई दिनों तक लगातार हिमालय ही में धूमते-फिरते रहे। उन्होंने इस बीच यमुनोत्री, बदरपूँछ (सुमेरु), गगोत्री, केदारनाथ, बदरीनाथ आदि अनेक बर्फीले और ऊँचे स्थानों की यात्रा की। इस घुमक्कड़ी जीवन द्वारा आध्यात्मिक साधना के साथ-साथ वह अपनी जन्म-जात प्रकृति-सौन्दर्योपासना की भी भूख मिटाते रहे। इन यात्राओं के क्रम में जो-जो दृश्य उन्होंने देखे और अपनी मस्ती के नशे में जो-जो अनुभूतियाँ उन्हें हुई, उनका ऐसा हृदयस्पर्शी, काव्यमय और दार्शनिक भावों में पगा हुआ विवरण उन्होंने अपनी अद्वितीय लेखनी के प्रसाद के रूप में हमारे लिए अपने सस्मरणों में छोड़ा है कि उसे पढ़कर एक बार शुष्क अरसिक हृदय में भी कवियों की-सी भावनाओं की तरंगें उठने लगती हैं।

इसके बाद पुन मैदानों में उतरकर क्रमशः मथुरा, अयोध्या, लखनऊ. आदि स्थानों में वेदान्त पर कई महत्वपूर्ण भाषण उन्होंने दिए। इस अभियान में अपने सतेज व्यक्तित्व, अलहड़ चरित्र तथा अलौकिक ज्ञान-चमत्कार द्वारा हजारों का मन हेरकर वेदान्त-धर्म के प्रति एक गहरी दिलचस्पी उन्होंने जनता में पैदा कर दी। जब गर्मियों में वह पुनः हिमालय पहुँचे, तो उनकी ख्याति से आर्काषित होकर टेहरी राज्य के तत्कालीन नरेश कीर्तिशाह ने उनसे भेंट करके आग्रह-पूर्वक उन्हें अपना मेहमान बना लिया।

जापान में :: 'पूरन' से भेंट

कुछ दिन टेहरी में रहने के बाद वह कीर्तिशाह के साथ राज्य की ग्रीष्म-कालीन राजधानी प्रतापनगर को चले गए। यही एकाएक अखबारों में यह सूचना पाकर कि शिकागो की पिछली विश्व-धर्म-परिषद् की भाँति शीघ्र ही एक और विश्व-धर्म-सम्मेलन का अधिवेशन जापान में होने जा रहा है, उस धर्मप्रेमी राजा ने राम से उसमें सम्मिलित होकर ससार को पुनः भारत का सदेश सुनाने का आग्रह किया। उन्होंने उनकी यात्रा-सम्बन्धी व्यवस्था का सारा भार अपने ऊपर ले लिया। भला, जन्मजात विश्व-धर्मी राम को इसमें क्योकर इन्कार हो सकता था? वह तत्काल ही जाने को राजी हो गए, और २८ अगस्त, सन् १९०२ ई०, के दिन अपने प्रिय शिष्य नारायण के साथ

कलकत्ते से जहाज पर सवार होकर हांगकांग होते हुए कुछ ही दिनों में जापान जा पहुँचे !

इस प्रकार विवेकानन्द की प्रख्यात धर्मप्रचारयात्रा के ठीक साढ़े नौ वर्ष बाद पुनः भारत का यह दूसरा तरुण सन्यासी एक धर्मदूत के रूप में वेदान्त की पताका लेकर समुद्र-पार के देशान्तर के आँगन में जा खड़ा हुआ ! किन्तु जब जापान पहुँचने पर स्वामी राम को यह मालूम हुआ कि उक्त विश्व-धर्म-परिषद् की खबर केवल अखबारों द्वारा उड़ाई गई एक बेमिर-पैर की गप्प मात्र थी, तो वह खूब हँसे ! उन्होंने कहा—'वाह, वाह, यह भी खूब रहा ! प्रकृति ने राम को अपने उस हिमालय के एकान्त से वापस दुनिया के आँगन में खींच ले आने के लिए, यह खूब मजे की चाल चली ! खैर, राम तो स्वतः ही एक जीता-जागता विश्व-धर्म-सम्मेलन-सा है ? अगर टोकियो उसका अधिवेशन न करे, तो न सही, राम तो अपना सम्मेलन करेगा ही !' और अपने कुछ सप्ताहों के उस आवासकाल ही में उन्होंने वहाँ अपनी फड़कती वक्तृताओं द्वारा ऐसी धूम बाँध दी कि जापान का सारा विद्वत्समाज चर्चित रह गया ! यही अचानक एक दिन अपने उस भावी परम भक्त और शिष्य 'पूरन' (या पूर्णसिंह) से उनकी प्रथम भेंट हुई, जिसने कि अपने आपको पूर्णतया उनके चरणों में छोड़कर अत में उनके नाम पर गेरुआ तक धारण कर लिया और आगे चलकर उनके जीवन के सबध में एक महत्त्वपूर्ण पुस्तक लिखकर आधुनिक भारतीय वाङ्मय में अपना नाम सदा के लिए अमर कर लिया !

अमेरिका में :: व्याख्यानो की धूम

इसके उपरान्त अपने साथी नारायण को वहीं छोड़कर राम अब और भी आगे की ओर बढ़े। वह जहाज में पैसिफिक महासागर को पार कर शीघ्र ही सैन-फ्रांसिस्को बन्दरगाह पर अमेरिका के तट पर जा उतरे। वहाँ विवेकानन्द के जादू का असर तो पहले से विद्यमान था ही। अतएव जब यह दूसरा तेजस्वी भारतीय संन्यासी भी पुनः वेदान्त की मशाल लिए हुए सामने आया, तो अमेरिकन जनता में फिर से एक धूम-सी मच गई। सब कहीं 'भूतिमान् ईसा मसीह' के नाम में अति श्रद्धापूर्वक उसकी आरती उतारी जाने लगी। उसके उस अलहड़ बर्तन और अलौकिक

मस्तानेपन ने तो स्वामी विवेकानन्द से भी अधिक लोकप्रिय उसे बना दिया ! इस प्रकार लगभग दो वर्ष तक स्वामी राम अमेरिका के मेहमान रहे । इस बीच स्थान-स्थान में पच्चीसों ओजपूर्ण भाषण देकर तथा अनेक शिष्य बनाकर विवेकानन्द द्वारा आरम्भ किए गए वेदान्त-प्रचार के काम को आगे बढ़ाने में उन्होंने जबर्दस्त योग दिया !

अपनी इस महान् धर्मयात्रा से लौटकर जब वह वापस स्वदेश आए, तो विवेकानन्द की तरह उनका भी देशवासियों द्वारा भव्य स्वागत किया गया । उन्होंने भी स्थान-स्थान में अपने व्याख्यानों की धूम दौंध दी । विवेकानन्द की तरह उनकी अमृत-वाणी में भी इस देश को अपनी आध्यात्मिकता के पोषण के साथ-साथ अपने सर्वाङ्गीण पुनरुत्थान का एक सशक्त जन-संदेश मिला । और उनके महान् त्याग के उज्ज्वल आदर्श ने तो उनकी वाणी से भी कहीं अधिक गहराई के साथ पैठकर, इस युग की उठती हुई पीढ़ी के मस्तिष्क और हृदय पर अपनी अमिट छाप अंकित कर दी !

वशिष्ठ-आश्रम :: महासमाधि

किन्तु विवेकानन्द की अपेक्षा रामतीर्थ एक आन्दोलनकर्त्ता जननायक अथवा धर्मप्रचारक से कहीं अधिक वस्तुतः एक एकान्तवासी साधक थे । अतएव अमेरिका से वापस आते ही एक दिन पुनः अपने प्रिय हिमालय की ओट में वह खिसक गए । वह हृषीकेश से तीस मील ऊपर 'व्यास-आश्रम' नामक एक बीहड़ दुर्गम स्थान में चले गए ! वहाँ अकेले ही कुछ समय तक निरुक्त और सस्कृत व्याकरण के साथ वेदों का गहन अध्ययन वह करते रहे । तदनंतर और भी अधिक एकान्त की चाह से वह टेहरी से पचाम मील दूर बारह-तेरह हजार फीट की ऊँचाई पर स्थित 'वशिष्ठ-आश्रम' नामक अन्य एक अगम्य किन्तु रमणीक पहाड़ी स्थान की प्राकृतिक कदराओं में जा बसे । अतः मैं साधना के चरम शिखर पर पहुँचने पर, जब उनके लिए कुछ और अधिक जानने या करने को अब बाकी न रहा, तब एक प्रकार से पूर्ण निवृत्त होकर वह मौन हो गए ! किन्तु कुछ ही समय बाद स्वास्थ्य ठीक न रहने के कारण, अपने भक्तों के आग्रह से उन्हें उस एकान्त स्थान से नीचे उतरकर वापस टेहरी चले आना पड़ा । वही १७ अक्टूबर, सन् १९०६, के दिन ठीक दोपहर को

बारह बजे, जब कि उनकी आयु के ठीक तैतीस वर्ष पूरे होने जा रहे थे, समीप ही बहनेवाली गंगा की पुनीत धारा में स्नान करते समय, देखते ही देखते एकाएक जलमग्न होकर अत्यन्त रहस्य-पूर्ण ढंग से वह सदा के लिए महासमाधिस्थ हो गए !

विश्व-गंगा का तैराक

इस प्रकार आधुनिक भारत के एक ऐसे अद्वितीय व्यक्तित्व की इहलौकिक जीवन-लीला का अन्त हुआ, जिसकी समता का कविहृदय और मस्ताना साधक श्रीरामकृष्ण परमहंस के बाद पिछले सौ वर्षों में इस देश में दूसरा न हुआ ! स्वामी राम थे यथार्थ में विशुद्ध अध्यात्म-क्षेत्र के ही एक पहुँचे हुए प्राणी ! वह इस पार्थिव सासारिक धरातल के जीव कदापि न थे । वह थे शत-प्रति-शत केवल उम ज्योतिष्मान् सत्य-शिव-सुन्दर रूपी परम शाश्वत वस्तु ही के एक महान् उद्गाता, जिसके कि विषय में उपनिषदों में कहा गया है कि 'वही तू है, वही तू है ।' वह एक पहुँचे हुए वेदान्ती, महान् ईश्वर-भक्त और साधना की मस्ती में जीवन भर कुहकने रहनेवाले एक अनोखे अलौकिक तपस्वी थे । यदि प्रकृति ने उन्हें एक असाधारण काव्य-प्रतिभा से सम्पन्न बनाया था, तो वह केवल इसीलिए कि अपनी उस काव्य-बीणा की झकार द्वारा वह और भी अधिक सवेदनापूर्वक अपने अतस्तल में तरंगित आध्यात्मिकता की रागिनी का स्वर निकाल सकें !

वह थे सच्चे अर्थों में आत्मा के कवि—इस विश्व के अंतराल में घूर्णित अनहद नादतत्त्व के एक दुर्लभ कलावन्त गीतकार । इसीसे तो हमने कहा कि वह हमारी इस भौगोलिक सीमाओं से बँधो, तुच्छ स्वार्थों से लदी दुनिया के प्राणी न थे । वह तो उस मुक्त गगन के वासी थे, जहाँ किसी भी प्रकार के भेदभाव, संघर्ष और अभाव के लिए गुजाइश ही नहीं है ! वह अपनी आत्मा को विश्वात्मा के साथ पूर्णतया मिलाकर मानो अपना पृथक् अस्तित्व खो चुके थे । उस एकीकरण के बाद से वह उस समदर्शी की आँखों से ही समस्त चराचर सृष्टि की देखने लगे थे । तो फिर हमारी सीमित पकड़ में वह भला क्योंकर कभी आ सकते थे ? उनके जैसे विश्व-गंगा के तैराक के लिए भला हमारी आज की इन छिछली राजनीतिक, सामाजिक और धार्मिक

समस्याओं एवं स्वार्थपूरित हितों का मूल्य ही क्या हो सकता था ?

फिर भी मानो करुणाद्रं होकर, वह अपने उस अल्पकालिक जीवन में ही हमें अध्यात्म का पाठ पढ़ाने के साथ-साथ समाज, राजनीति, धर्म, संस्कृति और साहित्य आदि सभी क्षेत्रों में स्थायी रूप से एक महान् प्रेरणा का वरदान दे गए । वह हमें सूखे वेदान्त का पाठ पढ़ाने के बजाय, विवेकानन्द की भाँति, अपने प्रत्येक रोग की एक दिव्य औषधि के रूप में उस ब्रह्मविद्या का महा प्रयोग बता गए, जो युग-युग तक हमारी मुक्ति का अमोघ उपाय बनी रहेगी ।

‘मैं ही भारत हूँ, मैं ही शिव हूँ’

उन्होंने हमें स्वदेश ही में अपने आपको लीन कर, उसके साथ एकाकार हो जाने का महान् आदर्श ग्रहण करने के लिए आहूत किया और उस ‘व्यावहारिक वेदान्त’ का रास्ता दिखाया, जिसे कि स्वयं अपना-कर मस्ती में वह प्रायः कहा करते थे—

“... मैं ही भारतवर्ष हूँ । मैं ही हिन्दुस्थान हूँ । यह भारत-भूमि ही मेरा शरीर है । उसका वह कुमारी अतरीप ही मेरे चरणों का अंतिम भाग है । उसका वह मुकुटरूप हिमाचल ही मेरा शीश है । मेरे इस शीश के जटाजूट में से ही गंगा की पुनीत धारा बह रही है । उसके शिरोभाग से ब्रह्मपुत्र तथा सिन्धु नद उच्छ्वसित हो रहे हैं । मेरी कमर के आम्पनास के कौपीन को विन्ध्याचल की वह विस्तृत मेखला बाँधे हुए है । मेरा एक पैर यदि कारोमडल तट है, तो दूसरा है मलाबार । मैं ही सारा का सागर भारत हूँ । उसकी पूर्वी तथा पश्चिमी श्रेणियाँ ही मेरी भुजाएँ हैं, जिन्हें फैलाकर समस्त मानव-जाति को अपने दृढालिगन में कसने के लिए मैं उत्कटित हूँ ।..... !

“मेरा प्रेम विश्वव्यापी है । आह ! कैसा अद्भुत है मेरा यह शरीर ! वह अपलक अनन्त आकाश की ओर टकटकी बाँधे खड़ा है ! पर उससे भी अद्भुत तो है उसमें बसनेवाली वह आत्मा, जो चराचर जगत् की आत्मा है । तभी तो जब मैं चलता हूँ, तो अनुभव करना हूँ कि भारत ही चल रहा है ! जब मैं बोलता हूँ, तो अनुभव करता हूँ कि भारत की ही वाणी गुँज रही है ! जब मैं साँस लेता हूँ, तो मालूम देता है कि मानो स्वयं भारतमाता ही साँस ले रही है ! मैं ही भारत हूँ, मैं ही शकर हूँ, मैं ही

शिव हूँ ! यही देशभक्ति की सबसे ऊँची भूमिका है और यही है व्यावहारिक वेदान्त !’

मातृभूमि के उद्धार के लिए आह्वान

और उसी स्वर में हमें प्रोत्साहित करते हुए उन्होंने कहा—‘भारतवासियों ! तुम अपनी दिव्य-गत आत्माओं को सुख पहुँचाने के लिए जिस तरह श्राद्ध करते हो, उसी तरह भारतमाता को स्वतंत्र बनाने के लिए भी अपने स्वार्थों की बलि दो ! तुम अपने आपको मातृभूमि और जाति के प्रेम में सराबोर कर एकराग-एकतान कर दो । प्रति क्षण तुम्हें स्वदेश के साथ अपनी उस एकता का ही भान होना चाहिए । बल्कि तुम्हारे और स्वदेश के बीच अहंभावमूलक सुकुचित व्यक्तित्व का एक छायामात्र का काँच का-सा परदा भी शेष नहीं रहना चाहिए । तुम्हें तो एक सच्चे सैनिक की भाँति मातृभूमि के हितार्थ अपने व्यक्तिगत जीवन को एकदम न्योछावर कर देना चाहिए । इस तरह अपने अहंभाव को तजकर जब तुम अपने आपको राष्ट्र के साथ एकाकार कर दोगे, तब जो कुछ तुम सोचोगे वही राष्ट्र सोचेगा !’

इस प्रकार हमारे राष्ट्र-निर्माण के अनुष्ठान में उन्होंने वैसा ही महत्त्वपूर्ण योग दिया, जैसा कि उनके पूर्वगामी विवेकानन्द ने अभी-अभी दिया था । उन्होंने भी वेदान्त की धर्मपताका फहराकर हमारे मन में आत्मविश्वास का एक दृढ़ भाव जगा दिया । अपने ओजस्वी भाषणों द्वारा हमारी प्रसुप्त आत्मा में जागृति का एक जादूभरा मंत्र उन्होंने फूँका । हमें अपनी जात-पातमूलक अधरूढिगत कुरीतियों की जजीरो को तोड़ने के लिए ललकारकर, समाज का संस्कार करने के लिए जोरों से उन्होंने प्रेरित किया । और इन सबसे कहीं अधिक स्वयं अपने ही जीवन में त्याग का एक सर्वोत्कृष्ट उदाहरण प्रस्तुत कर, हमें अपनी गुलामी की बेड़ियों का मोह छोड़ने के लिए साहस का एक फड़कता हुआ पाठ उन्होंने पढ़ाया । सारास यह कि वह न केवल इस युग के एक महान् सत, साधक और कविहृदय भक्त ही थे, प्रत्युत सच्चे अर्थ में हमारे एक महान् शिक्षक और राष्ट्र-निर्माता भी थे । उनका तो केवल जीवन ही हमारे लिए एक चिरसंदेशसूचक महापाठ था । जो देन वह छोड़ गए, उसका संपूर्ण मूल्य परखने के लिए अभी हमें अनेक युग चाहिएँगे !

